

## विषय-सूची

---

प्राक्कथन . . . . .	V
१. यमक वग्गो . . . . .	१
२. अप्पमादवग्गो . . . . .	५
३. चित्तवग्गो . . . . .	८
४. पुप्फ वग्गो . . . . .	१०
५. बालवग्गो . . . . .	१३
६. पण्डितवग्गो . . . . .	१६
७. अरहन्तवग्गो . . . . .	१९
८. सहस्सवग्गो . . . . .	२१
९. पापवग्गो . . . . .	२४
१०. दण्डवग्गो . . . . .	२७
११. जरावग्गो . . . . .	३०
१२. अत्तवग्गो . . . . .	३२
१३. लोक वग्गो . . . . .	३४
१४. बुद्धवग्गो . . . . .	३६
१५. सुखवग्गो . . . . .	३९
१६. पियवग्गो . . . . .	४२
१७. कोधवग्गो . . . . .	४५
१८. मलवग्गो . . . . .	४८

१९. धम्मट्ठवग्गो . . . . .	५२
२०. मग्गवग्गो . . . . .	५५
२१. पकि ण्णक वग्गो . . . . .	५९
२२. निरयवग्गो . . . . .	६२
२३. नागवग्गो . . . . .	६५
२४. तण्हावग्गो . . . . .	६८
२५. भिक्खुवग्गो . . . . .	७३
२६. ब्राह्मणवग्गो . . . . .	७८
<b>धम्मपदे वग्गानमुद्दानं . . . . .</b>	<b>८७</b>
<b>गाथानमुद्दानं . . . . .</b>	<b>८८</b>
<b>परिशिष्ट-१ . . . . .</b>	<b>८९</b>

## १. प्राक्कथन

भगवान बुद्ध की अमर वाणी 'धम्मपद' का भाषानुवाद आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। विश्वभर के लोक प्रिय ग्रंथों में इसका बहुत ऊंचा स्थान है। विपश्यना के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ इसकी लोक प्रियता और भी बढ़ती चली जायगी, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

कल्याणमित्र विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायण गोयन्काजी दस-दिवसीय विपश्यना शिविरों में साधना पक्ष को समझाने के लिए इसमें से बहुत से उद्धरण देते हैं। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि आपके लिए इस ग्रंथ का कि तना महत्त्व है। ध्यान से देखा जाय तो इसकी एक-एक गाथा साधना पक्ष को मजबूत करने वाली और अगाध प्रेरणा जगाने वाली है।

'धम्मपद' में समूची बुद्धवाणी की कुंजी भी उपलब्ध है -

**“यथापि रुचिरं पुष्पं, वण्णवन्तं अगन्धकं ।  
एवं सुभासिता वाचा, अफ लाहोति अकु ब्वतो ॥**

(गाथा ५१)

**“यथापि रुचिरं पुष्पं, वण्णवन्तं सुगन्धकं ।  
एवं सुभासिता वाचा, सफ लाहोति कु ब्वतो ॥”**

(गाथा ५२)

“जैसे कोई पुष्प सुंदर और वर्णयुक्त होने पर भी गंधरहित हो, वैसे ही अच्छी कही हुई (बुद्ध-)वाणी होती है फलरहित, यदि कोई तदनुसार (आचरण) न करे।

“जैसे कोई पुष्प सुंदर और वर्णयुक्त हो और सुगंध वाला हो, वैसे ही अच्छी कही हुई (बुद्ध-)वाणी होती है फलसहित, यदि कोई तदनुसार (आचरण) करने वाला हो।”

इस प्रकार बुद्धवाणी फलप्रद तभी होती है जब कोई इसके अनुसार आचरण करे, इसे अनुभूति पर उतारे। यही बुद्धवाणी की कुंजी है।

उदाहरण -

**“सब्बे सङ्घारा अनिच्चाति, यदा पञ्जाय पस्सति ।  
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ॥”**

(गाथा २७७)

“सारे संस्कार अनित्य हैं’ (याने जो कुछ उत्पन्न होता है वह नष्ट होता ही है)। इस (सच्चाई) को जब कोई (विपश्यना-)प्रज्ञा से देख (-जान) लेता है, तब उसको दुःखों का निर्वेद प्राप्त होता है (अर्थात्, दुःख-क्षेत्र के प्रति भोक्ताभाव टूट जाता है) – ऐसा है यह विशुद्धि (विमुक्ति) का मार्ग!”

यदि कोई इस गाथा का दस, बीस, पचास या सौ बार पाठ ही करता रहे, तो इससे कोई लाभ नहीं होता; केवल बुद्धि का यत्किंचित् परिष्कार होता है। जब इसी को अनुभूति पर उतार लेते हैं, तब अपरिमित कल्याण होने लगता है, सारे दुःखों से मुक्त होने का रास्ता मिल जाता है।

‘धम्मपद’ में ऐसी गाथाओं की भरमार है। इसीलिए विपश्यना विशोधन विन्यास ने बुद्धवाणी में से सर्वप्रथम इसी ग्रंथ का भाषानुवाद करने का निर्णय लिया। अब शनैः शनैः अन्यान्य ग्रंथों के भाषानुवाद का कार्य भी हाथ में लिया जायगा।

इस ग्रंथ में किये गये अनुवाद को आपके लिए अधिक अधिक उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। अनुवाद सरल भाषा में है जिसे हर कोई समझ सके। साधना पक्ष को उजागर करने की भी पूरी चेष्टा की गयी है। गाथाओं के तात्पर्य को समझाने के लिए प्रचुर सामग्री कोष्ठकों में डाली गयी है। ‘परिशिष्ट’ के रूप में “धम्मपद” की गाथाओं से मेल खाते कल्याणमित्र द्वारा विरचित हिंदी **राजस्थानी दोहों** को भी ग्रंथ में सम्मिलित किया गया है जो न केवल प्रेरणादायक सामग्री का काम करते हैं बल्कि अपने अनूठेपन के कारण ग्रंथ की शोभा को भी चार चांद लगाते हैं।

ध्यान रहे कि समूची बुद्धवाणी को ‘तिपिटक’ के नाम से जाना जाता है। ‘तिपिटक’ के तीन बड़े विभाजन हैं – (१) विनयपिटक, (२) सुत्तपिटक तथा (३) अभिधम्मपिटक। इनमें से ‘सुत्तपिटक’ के अंतर्गत पांच निकाय हैं – दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अङ्गुत्तरनिकाय तथा खुद्दकनिकाय। ‘खुद्दकनिकाय’ के अंतर्गत १९ ग्रंथ हैं। इन १९ ग्रंथों में से एक है – ‘धम्मपद’।

इस ग्रंथ का पालि-पाठ म्यांमा देश में सन १९५४-५६ में संपन्न हुए छट्ट संगायन में स्वीकृत पाठ का अनुगामी है। इसी कारण यह सर्वथा प्रामाणिक है।

आशा है इस अनमोल ग्रन्थ का प्रकाशन विपश्यी साधकों, साधिकाओं, धर्म में अभिरूचि रखने वाले जिज्ञासुओं के लिए लाभप्रद होगा।

**विपश्यना विशोधन विन्यास**

धम्मगिरि, इगतपुरी

## धम्मपद

### १. यमक वग्गो

१. मनोपुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।  
मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा।  
ततो नं दुक्खमन्वेति, चक्कं व वहतो पदं ॥

मन सभी धर्मों (प्रवृत्तियों) का अगुआ है, मन ही प्रधान है, सभी धर्म मनोमय हैं। जब कोई व्यक्ति अपने मन को मैला करके कोई वाणी बोलता है, अथवा शरीर से कोई कर्म करता है, तब दुःख उसके पीछे ऐसे हो लेता है, जैसे गाड़ी के चक्के बैल के पैरों के पीछे-पीछे हो लेते हैं।

२. मनोपुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।  
मनसा चे पसन्नेन, भासति वा करोति वा।  
ततो नं सुखमन्वेति, छायाव अनपायिनी ॥

मन सभी धर्मों (प्रवृत्तियों) का अगुआ है, मन ही प्रधान है, सभी धर्म मनोमय हैं। जब कोई व्यक्ति अपने मन को उजला रख करके कोई वाणी बोलता है, अथवा शरीर से कोई कर्म करता है, तब सुख उसके पीछे ऐसे हो लेता है जैसे कभी संग न छोड़ने वाली छाया संग-संग चलने लगती है।

३. अक्कोच्छिमं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।  
ये च तं उपनहन्ति, वेरं तेसं न सम्मति ॥

‘मुझे कोसा’, ‘मुझे मारा’, ‘मुझे हराया’, ‘मुझे लूटा’ - जो मन में ऐसी गांठें बांधते रहते हैं, उनका वैर शांत नहीं होता।

४. अक्कोच्छिमं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।  
ये च तं नुपनहन्ति, वेरं तेसूपसम्मति ॥

‘मुझे कोसा’, ‘मुझे मारा’, ‘मुझे हराया’, ‘मुझे लूटा’ - जो मन में ऐसी गांठें नहीं बांधते हैं, उनका वैर शांत हो जाता है।

५. न हि वेरेन वेरानि, सम्मन्तीथ कु दाचनं।  
अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो ॥

यहां (इस लोक में) कभी भी वैर से वैर शांत नहीं होते, बल्कि अवैर से शांत होते हैं। यही सनातन धर्म है।

६. परे च न विजानन्ति, मयमेत्थ यमामसे।  
ये च तत्थ विजानन्ति, ततो सम्मन्ति मेधगा ॥

अनाड़ी लोग नहीं जानते कि हम यहां (इस संसार) से जाने वाले हैं। जो इसे जान लेते हैं उनके झगड़े शांत हो जाते हैं।

७. सुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु असंवुतं।  
भोजनमिह चामत्तञ्जुं, कु सीतं हीनवीरियं।  
तं वे पसहति मारो, वातो रुक्खं व दुब्बलं ॥

अच्छी लगने वाली चीजों को शुभ ही शुभ देखते विहार करने वाले, इंद्रियों में असंयत, भोजन की मात्रा के अज्ञानकार, आलसी और उद्योगहीन को मार ऐसे सताता है जैसे दुर्बल वृक्ष को मारुत (पवन)।

८. असुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु सुसंवुतं।  
भोजनमिह च मत्तञ्जुं, सद्धं आरद्धवीरियं।  
तं वे नप्पसहति मारो, वातो सेलं व पब्बतं ॥

अशुभ को अशुभ जान कर साधना करने वाले, इंद्रियों में सुसंयत, भोजन की मात्रा के जानकार, श्रद्धावान और उद्योगरत को मार उसी प्रकार नहीं डिंगा सकता जैसे कि वायु शैल पर्वत को।

९. अनिक्क सावो कासावं, यो वत्थं परिदहिस्सति।  
अपेतो दमसच्चेन, न सो कासावमरहति ॥

जिसने कषायों (चित्तमलों) का परित्याग नहीं किया है पर कषायवस्त्र धारण कि ये हुए है, वह संयम और सत्य से परे है। वह कषायवस्त्र (धारण करने) का अधिकारी नहीं है।

१०. यो च वन्तक सावस्स, सीलेसु सुसमाहितो।  
उपेतो दमसच्चेन, स वे कासावमरहति ॥

जिसने कषायों (चित्तमलों) को निकाल बाहर किया है, शीलें में प्रतिष्ठित है,

संयम और सत्य से युक्त है, वह निःसंदेह कापाय वस्त्र (धारण करने) का अधिकारी है।

११. असारे सारमतिनो, सारे चासारदस्सिनो।  
ते सारं नाधिगच्छन्ति, मिच्छासङ्कप्पगोचरा ॥

जो निःसार को सार और सार को निःसार समझते हैं, ऐसे गलत चिंतन में लगे हुए व्यक्तियों को सार प्राप्त नहीं होता।

१२. सारञ्च सारतो जत्वा, असारञ्च असारतो।  
ते सारं अधिगच्छन्ति, सम्मासङ्कप्पगोचरा ॥

सार को सार और निःसार को निःसार जान कर शुद्ध चिंतन वाले व्यक्ति सार को प्राप्त कर लेते हैं।

१३. यथा अगारं दुच्छन्नं, बुद्धी समतिविज्झति।  
एवं अभावितं चित्तं, रागो समतिविज्झति ॥

जैसे बुरी तरह छाये हुए घर में वर्षा का पानी घुस जाता है, वैसे ही अभावित चित्त में राग घुस जाता है।

१४. यथा अगारं सुच्छन्नं, बुद्धी न समतिविज्झति।  
एवं सुभावितं चित्तं, रागो न समतिविज्झति ॥

जैसे अच्छी तरह छाये हुए घर में वर्षा का पानी नहीं घुस पाता है, वैसे ही (शमथ और विपश्यना से) अच्छी तरह भावित चित्त में राग नहीं घुस पाता है।

१५. इध सोचति पेच्च सोचति, पापकरी उभयत्थ सोचति।  
सो सोचति सो विहज्जति, दिस्वा कम्मकि लिट्टमत्तनो ॥

यहां (इस लोक में) शोक करता है, मरणोपरांत (परलोक में) शोक करता है, पाप करने वाला (व्यक्ति) दोनों जगह शोक करता है। वह अपने कर्मों की मलिनता देख कर शोकापन्न होता है, संतापित होता है।

१६. इध मोदति पेच्च मोदति, कत्तपुज्जो उभयत्थ मोदति।  
सो मोदति सो पमोदति, दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो ॥

यहां (इस लोक में) प्रसन्न होता है, मरणोपरांत (परलोक में) प्रसन्न होता है, पुण्य कि या हुआ व्यक्ति दोनों जगह प्रसन्न होता है। वह अपने कर्मों की शुद्धता (पुण्यकर्मसंपत्ति) देख कर मुदित होता है, प्रमुदित होता है।

१७. इध तप्पति पेच्च तप्पति, पापकरी उभयत्थ तप्पति।  
“पापं मे कत”न्ति तप्पति, भिय्यो तप्पति दुग्गतिं गतो ॥

यहां (इस लोक में) संतप्त होता है, प्राण छोड़ कर (परलोक में) संतप्त होता है। पापकारी दोनों जगह संतप्त होता है। ‘मैंने पाप किया है’ - इस (चिंतन) से संतप्त होता है (और) दुर्गति को प्राप्त होकर और भी (अधिक) संतप्त होता है।

१८. इध नन्दति पेच्च नन्दति, कतपुञ्जो उभयत्थ नन्दति।  
“पुञ्जं मे कत”न्ति नन्दति, भिय्यो नन्दति सुग्गतिं गतो ॥

यहां (इस लोक में) आनंदित होता है, प्राण छोड़ कर (परलोक में) आनंदित होता है। पुण्यकारी दोनों जगह आनंदित होता है। ‘मैंने पुण्य किया है’ - इस (चिंतन) से आनंदित होता है (और) सुगति को प्राप्त होने पर और भी (अधिक) आनंदित होता है।

१९. बहुम्मि चे संहितं भासमानो, न तक्क रोहोति नरो पमत्तो।  
गोपोव गावो गणयं परेसं, न भागवा सामञ्जस्स होत्ति ॥

धर्मग्रंथों (तिपिटक) का कि तना ही पाठ करे, लेकिन यदि प्रमाद के कारण मनुष्य उन धर्मग्रंथों के अनुसार आचरण नहीं करता, तो दूसरों की गौर्वें गिनने वाले ग्वालों की तरह वह श्रमणत्व का भागी नहीं होता।

२०. अप्पम्मि चे संहितं भासमानो, धम्मस्स होत्ति अनुधम्मचारी।  
रागञ्च दोसञ्च पहाय मोहं, सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो।  
अनुपादियानो इध वा हरं वा, स भागवा सामञ्जस्स होत्ति ॥

धर्मग्रंथों का भले थोड़ा ही पाठ करे, लेकिन यदि वह (व्यक्ति) धर्म के अनुकूल आचरण करने वाला होता है, तो राग, द्वेष और मोह को त्याग कर, संप्रज्ञानी बन, भली प्रकार विमुक्त चित्त वाला होकर, इहलोक अथवा परलोक में कुछ भी आसक्ति न करता हुआ श्रमणत्व का भागी हो जाता है।

यमकवग्गो पठमो निट्ठित्तो।



## २. अप्पमादवग्गो

२१. अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं।  
अप्पमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मत्ता ॥

प्रमाद न करना अमृत (निर्वाण) का पद है और प्रमाद मृत्यु का पद। प्रमाद न करने वाले (कभी) मरते नहीं और प्रमादी (तो) मरे-समान होते हैं।

२२. एवं विसेसतो जत्वा, अप्पमादमिह पण्डिता।  
अप्पमादे पमोदन्ति, अरियानं गोचरे रत्ता ॥

ज्ञानी जन अप्रमाद के बारे में इस प्रकार विशेष रूप से जान कर आर्यों की गोचरभूमि में रमण करते हुए अप्रमाद में प्रमुदित होते हैं।

२३. ते ज्ञायिनो साततिका, निच्चं दब्धपरक्कमा।  
फु सन्ति धीरा निब्बानं, योगक्खेमं अनुत्तरं ॥

वे सतत ध्यान करने वाले, नित्य दृढ़ पराक्रम करने वाले, धीर पुरुष उत्कृष्ट योगक्षेम वाले निर्वाण को प्राप्त (अर्थात्, इसका साक्षात्कार) कर लेते हैं।

२४. उट्टानवतो सतीमतो, सुचिकम्मस्स निसम्मकारिनो।  
सज्जतस्स धम्मजीविनो, अप्पमत्तस्स यसोभिवट्ठति ॥

उद्योगशील, स्मृतिमान, शुचि (दोषरहित) कर्म करने वाले, सोच-समझ कर काम करने वाले, संयमी, धर्म का जीवन जीने वाले, अप्रमत्त (व्यक्ति) का यश खूब बढ़ता है।

२५. उट्टानेनप्पमादेन, संयमेन दमेन च।  
दीपं कयिराथ मेधावी, यं ओघो नाभिकीरति ॥

मेधावी (पुरुष) उद्योग, अप्रमाद, संयम तथा (इंद्रियों के) दमन द्वारा (अपने लिए ऐसा) द्वीप बना ले जिसे (चार प्रकार के क्लेशों की) बाढ़ आप्लावित न कर सके।

२६. पमादमनुयुज्जन्ति, बाला दुम्मेधिनो जना।  
अप्पमादञ्च मेधावी, धनं सेट्ठं वरक्खति ॥

मूर्ख, दुर्बुद्धि जन प्रमाद में लगे रहते हैं, (जबकि) मेधावी श्रेष्ठ धन के समान अप्रमाद की रक्षा करता है।

२७. मा पमादमनुयुञ्जेथ, मा कामरतिसन्धवं।  
अप्पमत्तो हि ज्ञायन्तो, पप्पोति विपुलं सुखं ॥

प्रमाद मत करो और न ही कामभोगों में लिप्त होओ, क्योंकि अप्रमादी ध्यान करते हुए महान (निर्वाण) सुख को पा लेता है।

२८. पमादं अप्पमादेन, यदा नुदति पण्डितो।  
पञ्जापासादमारुह, असोको सोकि निं पजं।  
पब्बतट्टोव भूमट्टे, धीरो वाले अवेक्खति ॥

जब कोई समझदार व्यक्ति प्रमाद को अप्रमाद से परे धकेल देता (अर्थात्, जीत लेता) है, तब वह प्रज्ञारूपी प्रासाद पर चढ़ा हुआ शोक रहित हो जाता है। (ऐसा) शोक रहित धीर (मनुष्य) शोकग्रस्त (विमूढ़) जनों को ऐसे ही (करुण भाव से) देखता है जैसे कि पर्वत पर खड़ा हुआ (कोई व्यक्ति) धरती पर खड़े हुए लोगों को देखे।

२९. अप्पमत्तो पमत्तेसु, सुत्तेसु बहुजागरो।  
अवलस्संव सीघस्सो, हित्वा याति सुमेधसो ॥

प्रमाद करने वालों में अप्रमादी (क्षीणाश्रव) तथा (अज्ञान की नींद में) सोये लोगों में (प्रज्ञा में) अतिसचेत उत्तम प्रज्ञा वाला (दूसरों को) पीछे छोड़ कर (ऐसे आगे निकल जाता है) जैसे शीघ्रगामी अश्व दुर्बल अश्व को।

३०. अप्पमादेन मघवा, देवानं सेट्ठं गतो।  
अप्पमादं परं सन्ति, पमादो गरहितो सदा।

अप्रमाद के कारण इंद्र देवताओं में श्रेष्ठता को प्राप्त हुआ। (पंडित जन) अप्रमाद की प्रशंसा करते हैं, और प्रमाद की सदा निंदा होती है।

३१. अप्पमादरत्तो भिक्खु, पमादे भयदस्सि वा।  
संयोजनं अणुं थूलं, इहं अग्गीव गच्छति ॥

जो साधक अप्रमाद में रत रहता है, या प्रमाद में भय देखता है, वह अपने छोटे-बड़े सभी (कर्म-संस्कारोंके) बंधनों को आग की भांति जलाते हुए चलता है।

३२. अप्पमादरतो भिक्खु, पमादे भयदस्सि वा।  
अभब्बो परिहानाय, निब्बानस्सेव सत्तिके।

जो साधक अप्रमाद में रत रहता है, या प्रमाद में भय देखता है, उसका पतन नहीं हो सकता। वह (तो) निर्वाण के समीप (पहुँचा हुआ) होता है।

अप्पमादवग्गो दुत्तियो निट्ठितो।

### ३. चित्तवग्गो

३३. फन्दनं चपलं चित्तं, दूरक्खं दुन्निवारयं।  
उजुं करोति मेधावी, उसुकारोव तेजनं॥

चंचल, चपल, कठिनाईसे संरक्षण और कठिनाईसे (ही) निवारण योग्य चित्त को मेधावी (पुरुष) वैसे ही सीधा करता है जैसे बाण बनाने वाला बाण को।

३४. वारिजोव थले खित्तो, ओक मोक तउब्भतो।  
परिफन्दतिदं चित्तं, मारधेय्यं पहात्तवे॥

जैसे जल से निकाल कर धरती पर फेंकी गयी मछली तड़फड़ाती है, वैसे ही मार के फंदे से निकलने के लिए यह चित्त (तड़फड़ाता है)।

३५. दुब्भिग्गहस्स लहुनो, यत्थकामनिपात्तिनो।  
चित्तस्स दमथो साधु, चित्तं दन्तं सुखावहं॥

ऐसे चित्त का दमन करना अच्छा है जिसको वश में करना कठिन है, जो शीघ्रगामी है और जहां चाहे वहां चला जाता है। दमन किया गया चित्त सुख देने वाला होता है।

३६. सुदुद्धसं सुनिपुणं, यत्थकामनिपात्तिनं।  
चित्तं रक्खेथ मेधावी, चित्तं गुत्तं सुखावहं॥

जो बड़ा दुर्दर्श है, कठिनाईसे दिखाई पड़ने वाला है, बड़ा चालाक है, जहां चाहे वहीं जा पहुँचता है, समझदार (व्यक्ति) को चाहिए कि (ऐसे) चित्त की रक्षा करे। सुरक्षित चित्त बड़ा सुखदायी होता है।

३७. दूरङ्गमं एकचरं, असरीरं गुहासयं।  
ये चित्तं संयमेस्सन्ति, मोक्खन्ति मारबन्धना॥

जो (कोई) (पुरुष, स्त्री, गृहस्थ अथवा प्रव्रजित) दूरगामी, अकेला विचरने वाले, शरीर-रहित, गुहाशायी चित्त को संयमित करेंगे, वे मार के बंधन से मुक्त हो जायेंगे।

३८. अनवट्टितचित्तस्स, सद्धम्मं अविजानतो।  
परिप्लवपसादस्स, पज्जा न परिपूरति॥

जिसका चित्त अस्थिर है, जो सद्धर्म को नहीं जानता, जिसकी श्रद्धा दोलायमान (डांवाडोल) है, उसकी प्रज्ञा परिपूर्ण नहीं हो सकती।

**३९. अनवस्सुत चित्तस्स, अनन्वाहत चेतसो।  
पुञ्जपापपहीनस्स, नत्थि जागरतो भयं॥**

जिसके चित्त में राग नहीं, जिसका चित्त द्वेष से रहित है, जो पाप-पुण्य-विहीन है, उस सजग रहने वाले (क्षीणाश्रव) को कोई भय नहीं होता।

**४०. कुम्भूपमं कायमिमं विदित्वा, नगरूपमं चित्तमिदं ठपेत्वा।  
योधेथ मारं पञ्जावुधेन, जितञ्च रक्खे अनिवेसनो सिया॥**

इस शरीर को घड़े के समान (भंगुर) जान, और इस चित्त को गढ़ के समान (रक्षित और दृढ़) बना, प्रज्ञारूपी शस्त्र के साथ मार से युद्ध करे। (उसे) जीत लेने पर भी (चित्त की) रक्षा करे और अनासक्त बना रहे।

**४१. अचिरं वतयं कायो, पथविं अधिसेस्सति।  
छुद्धो अपेतविञ्जाणो, निरत्थं कलिङ्गरं॥**

अहो! यह तुच्छ शरीर शीघ्र ही चेतनारहित होकर अनिर्र्थक काठके टुकड़े की भांति पृथ्वी पर पड़ रहेगा।

**४२. दिसो दिसं यं तं कयिरा, वेरी वा पन वेरिनं।  
मिच्छापणिहितं चित्तं, पापियो नं ततो करे॥**

शत्रु शत्रु की अथवा वैरी वैरी की जितनी हानि करता है, कुमार्ग पर लगा हुआ चित्त उससे (कहीं) अधिक हानि करता है।

**४३. न तं माता पिता कयिरा, अञ्जे वापि च जातका।।  
सम्मापणिहितं चित्तं, सेय्यसो नं ततो करे॥**

जितनी (भलाई) न माता-पिता कर सकते हैं, न दूसरे भाई-बंधु, उससे (कहीं अधिक) भलाई सन्मार्ग पर लगा हुआ चित्त करता है।

चित्तवग्गो ततियो निद्धितो।

## ४. पुष्प वगो

४४. कोइमं पथविं विचेस्सति, यमलोकञ्च इमं सदेवकं ।  
को धम्मपदं सुदेसितं, कु सलो पुष्प मिव पचेस्सति ॥

कौन है जो इस (आत्मभाव अथवा अपनापे रूपी) पृथ्वी, और देवताओं सहित इस यमलोक को (बींध कर इनका) साक्षात्कार कर लेगा? कौन कुशल (व्यक्ति) भली प्रकार उपदिष्ट धर्म के पदों का पुष्प की भांति (चयन करते हुए) इनको भी बींध कर इनका) साक्षात्कार कर पायगा?

४५. सेखो पथविं विचेस्सति, यमलोकञ्च इमं सदेवकं ।  
सेखो धम्मपदं सुदेसितं, कु सलो पुष्प मिव पचेस्सति ॥

शैक्ष्य (निर्वाण की खोज में लगा हुआ व्यक्ति) ही पृथ्वी पर, और देवताओं सहित इस यमलोक पर, विजय पायगा। शैक्ष्य (ही) भली प्रकार उपदिष्ट धर्म के पदों का पुष्प की भांति चयन करेगा।

४६. फेणूपमंङ्गं यमिमविदित्वा, मरीचिधम्मं अभिसम्बुधानो ।  
छेत्त्वानमारस्सपुष्पकानि, अदस्सनं मच्चुराजस्सगच्छे ॥

इस शरीर को फेन (झाग) के समान (या) (मरु-)मरीचिका के समान (निःसार) जान कर मार के फंदों को काटकर मृत्युराज की दृष्टि से ओझल रहे।

४७. पुष्पानि हेव पचिनन्तं, ब्यासत्तमनसं नरं ।  
सुत्तं गामं महोघोव, मच्चु आदाय गच्छति ॥

(कामभोगरूपी) पुष्पों को चुनने वाले, आसक्तियों में डूबे हुए मनुष्य को मृत्यु (वैसे ही) पकड़ कर ले जाती है जैसे सोये हुए गांव को (नदी की) बड़ी बाढ़ (बहा ले जाती है)।

४८. पुष्पानि हेव पचिनन्तं, ब्यासत्तमनसं नरं ।  
अतित्तज्जेव कामेसु, अन्तको कुरुते वसं ॥

(कामभोगरूपी) पुष्पों को चुनने वाले, आसक्तियों में डूबे हुए मनुष्य को (जबकि अभी वह) कामनाओं से तृप्त नहीं हुआ है, यमराज अपने वश में कर लेता है।

४९. यथापि भमरो पुष्पं, वण्णगन्धमहेठयं।  
पलेति रसमादाय, एवं गामे मुनी चरे ॥

जैसे भ्रमर फूलके वर्ण और गंध को क्षति पहुँचाये बिना रस को लेकर चल देता है, वैसे ही गांव में मुनि भिक्षाटन करे।

५०. न परेसं विलोमानि, न परेसं कताकतं।  
अत्तनोव अवेवखेय्य, कतानि अकतानि च ॥

दूसरों के परुष (मर्मच्छेदक) वचनों पर ध्यान न दे, न दूसरों के कृत-अकृत को देखे, (तद्विपरीत) अपने (ही) कृत-अकृत को देखे।

५१. यथापि रुचिरं पुष्पं, वण्णवन्तं अगन्धकं।  
एवं सुभासिता वाचा, अफलाहोति अकुब्बतो ॥

जैसे कोई पुष्प सुंदर और वर्णयुक्त होने पर भी गंधरहित हो, वैसे ही अच्छी कही हुई (बुद्ध) वाणी होती है फलरहित, यदि कोई तदनुसार (आचरण) न करे।

५२. यथापि रुचिरं पुष्पं, वण्णवन्तं सुगन्धकं।  
एवं सुभासिता वाचा, सफलाहोति कुब्बतो ॥

जैसे कोई पुष्प सुंदर और वर्णयुक्त हो और (सु-) गंध वाला हो, वैसे ही अच्छी कही हुई (बुद्ध) वाणी होती है फलसहित, यदि कोई तदनुसार (आचरण) करने वाला हो।

५३. यथापि पुष्परासिम्हा, कथिरा मालागुणे बहू।  
एवं जातेन मच्चेन, कत्तब्बं कुसलं बहुं ॥

जैसे (कोई व्यक्ति) पुष्प-राशि से बहुत सी मालाएं बनाये, ऐसे ही उत्पन्न हुए प्राणी को बहुत-सा कुशलकर्म (पुण्य) करना चाहिए।

५४. न पुष्पगन्धो पटिवातमेति, न चन्दनं तगरमल्लिका वा।  
सत्तञ्च गन्धो पटिवातमेति, सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवायति ॥

चंदन, तगर, कमल अथवा जूही - इन (सभी) की सुगंधों से शील-सदाचार की सुगंध बढ़-चढ़ कर है।

५५. चन्दनं तगरं वापि, उप्पलं अथ वस्सिकी।  
एतेसं गन्धजातानं, सीलगन्धो अनुत्तरो ॥

तगर और चंदन की गंध, उत्पल (कमल) और चमेली की गंध - इन भिन्न-भिन्न सुगंधियों से शील की गंध अधिक श्रेष्ठ है।

५६. अप्पमत्तो अयं गन्धो, व्यायं तगरचन्दनं।  
यो च शीलवतं गन्धो, वाति देवेसु उत्तमो ॥

तगर और चंदन की जो यह गंध फैलती है, वह अल्पमात्र है, और जो यह शीलवानों की गंध है, वह उत्तम (गंध) देवताओं में फैलती है।

५७. तेसं सम्पन्नशीलानं, अप्पमादविहारिनं।  
सम्मदञ्जा विमुत्तानं, मारो मग्गं न विन्दति ॥

जो शीलसंपन्न हैं, प्रमादरहित होकर विहार करते हैं, यथार्थ ज्ञान द्वारा मुक्त हो चुके हैं, उनके मार्ग को मार नहीं देख पाता।

५८. यथा सङ्कारठानस्मिं, उज्झितस्मिं महापथे।  
पदुमं तत्थ जायेथ, सुचिगन्धं मनोरमं ॥

५९. एवं सङ्कारभूतेसु, अन्धभूते पुथुज्जने।  
अतिरोचति पञ्जाय, सम्मासम्बुद्धसावको ॥

जिस प्रकार महापथ पर फेंके गये कचरे के ढेर में पवित्र गंध वाला मनोरम पद्म उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार (कचरे के समान) भगवान् सम्यक्संबुद्ध का श्रावक भी अपनी प्रज्ञा से अंधे पृथग्जनों के बीच अत्यंत शोभायमान होता है।

पुष्पवग्गो चतुत्थो निद्धितो।



## ५. बालवग्गो

६०. दीघा जागरतो रत्ति, दीघं सन्तस्स योजनं।  
दीघो बालानं संसारो, सद्धम्मं अविजानतं ॥

जागने वाले की रात लंबी हो जाती है, थके हुए का योजन लंबा हो जाता है।  
सद्धर्म को न जानने वाले मूर्ख (व्यक्तियों) के लिए संसार (-चक्र) लंबा हो जाता है।

६१. चरञ्चे नाधिगच्छेय्य, सेय्यं सदिसमत्तनो।  
एक चरियं दब्धं क यिरा, नत्थि बाले सहायता ॥

यदि विचरण करते हुए (शील, समाधि, प्रज्ञा में) अपने से श्रेष्ठ या अपने  
सदृश (सहचर) न मिले, तो दृढ़ता के साथ अकेला ही विचरण करे। मूर्ख  
(व्यक्ति) से सहायता नहीं मिल सकती।

६२. पुत्ता मत्थि धनमत्थि, इति बालो विहञ्जति।  
अत्ता हि अत्तनो नत्थि, कु तो पुत्ता कु तो धनं ॥

‘मेरे पुत्र!’ ‘मेरा धन!’ - इस (मिथ्या चिंतन) में ही मूढ़ व्यक्ति व्याकुल बना  
रहता है। अरे, जब यह (तन और मन का) अपनापा ही अपना नहीं है, तो कहां  
‘मेरे पुत्र!’? कहां ‘मेरा धन!’?

६३. यो बालो मञ्जति बाल्यं, पण्डितो वापि तेन सो।  
बालो च पण्डितमानी, स वे “बालो”ति वुच्चति ॥

जो मूढ़ होकर (अपनी) मूढ़ता को स्वीकारता है, वह इस (अंश) में पंडित  
(ज्ञानी) है; और जो मूढ़ होकर (अपने आप को) पंडित मानता है, वह ‘मूढ़’ ही  
कहा जाता है।

६४. यावजीवमिं च बालो, पण्डितं पयिरुपासति।  
न सो धम्मं विजानाति, दब्धी सूपरसं यथा ॥

चाहे मूढ़ (व्यक्ति) जीवन-भर पंडित की सेवा में रहे, वह धर्म को (वैसे ही)  
नहीं जान पाता जैसे कलुषी सूप के रस को।

६५. मुहुत्तमपि च विञ्जू, पण्डितं पयिरुपासति।  
खिप्पं धम्मं विजानाति, जिक्खा सूपरसं यथा ॥

चाहे विज्ञ पुरुष मुहूर्त भर ही पंडित की सेवा में रहे, वह शीघ्र ही धर्म को (वैसे) जान लेता है जैसे जिह्वा सूप के रस को।

**६६. चरन्ति बाला दुम्मेधा, अमित्तेनेव अत्तना।  
करोन्ता पापकं कम्मं, यं होति कटुकफ़लं॥**

बाल-बुद्धि वाले मूर्ख जन अपने ही शत्रु बन कर आचरण करते हैं और ऐसे पापकर्म करते हैं जिनका फल (स्वयं उनके अपने लिए ही) कटुवा होता है।

**६७. न तं कम्मं कतं साधु, यं कत्वा अनुत्पत्ति।  
यस्स अस्सुमुखो रोदं, विपाकं पटिसेवति॥**

वह कि या हुआ कर्म ठीक नहीं जिसे करके पीछे पछताना पड़े, और जिसके फल को अशुमुख हो रोते हुए भोगना पड़े।

**६८. तच्च कम्मं कतं साधु, यं कत्वा नानुत्पत्ति।  
यस्स पतीतो सुमनो, विपाकं पटिसेवति॥**

और वह कि या हुआ कर्म ठीक होता है जिसे करके पीछे पछताना न पड़े, और जिसके फल को प्रसन्नचित्त होकर अच्छे मन से भोगा जा सके।

**६९. मधुवा मज्जति बालो, याव पापं न पच्चति।  
यदा च पच्चति पापं, बालो दुक्खं निगच्छति॥**

जब तक पाप का फल नहीं आता तब तक मूढ़ (व्यक्ति) उसे मधु के समान (मधुर) मानता है, और जब पाप का फल आता है तब (वह) मूढ़ दुःखी होता है।

**७०. मासे मासे कुसग्गेन, बालो भुज्जेय्य भोजनं।  
न सो सङ्घातधम्मानं, कलं अग्घति सोळसिं॥**

चाहे मूढ़ (व्यक्ति) महीना-महीना (के अंतराल) पर केवल कुशकी नोक से भोजन करे, तो भी वह धर्मवेत्ताओं (की कुशल चेतना) के सोलहवें भाग की बराबरी भी नहीं कर सकता।

**७१. न हि पापं कतं कम्मं, सज्जु खीरं व मुच्चति।  
डहन्तं बालमन्चेति, भस्मच्छन्नो व पावको॥**

जैसे ताजा दूध शीघ्र नहीं जमता, उसी तरह कि या गया पाप कर्म शीघ्र (अपना) फल नहीं लाता। राख से ढंकी आग की तरह जलता हुआ वह मूर्ख का पीछा करता है।

७२. यावदेव अनत्थाय, जत्तं बालस्स जायति।  
हन्ति बालस्स सुक्कं सं, मुद्धमस्स विपातयं ॥

मूढ़ का जितना भी ज्ञान है (वह उसके) अनिष्ट के लिए होता है। वह उसकी मूर्धा (सिर=प्रज्ञा) को गिरा कर उसके कुशल कर्मों का नाश कर डालता है।

७३. असन्तं भावनमिच्छेय्य, पुरेक्खारञ्च भिक्खुसु।  
आवासेसु च इस्सरियं, पूजा परकु लेसु च ॥

(मूढ़ व्यक्ति) जो नहीं है उसकी संभावना जगाता है, भिक्षुओं में अग्रणी (बनना चाहता है), संघ के आवासों (विहारों) का स्वामित्व (चाहता है) और पराये कुलों में आदर-सत्कार की कामना करता है।

७४. ममेव कत मज्जन्तु, गिहीपब्बजिता उभो।  
ममेवातिवसा अस्सु, कि च्चाकि च्चेसुकि स्मिचि।  
इति बालस्स सङ्गप्पो, इच्छा मानो च वड्ढति ॥

गृहस्थ और प्रव्रजित दोनों मेरा ही किया मानें, किसी भी कृत्य-अकृत्यमें मेरे ही वशवर्ती रहें - ऐसा मूढ़ (व्यक्ति) का संकल्प होता है। (इससे) उसकी इच्छा और अभिमान का संवर्द्धन होता है।

७५. अज्जा हि लाभूपनिसा, अज्जा निब्बानगामिनी।  
एवमेतं अभिज्जाय, भिक्खु बुद्धस्स सावको।  
सक्कारं नाभिनन्देय्य, विवेक मनुब्रूहये ॥

लाभ का मार्ग दूसरा है और निर्वाण की ओर ले जाने वाला दूसरा - इस प्रकार इसे भली प्रकार जान कर बुद्ध का श्रावक भिक्षु (आदर-) सत्कार की इच्छा न करे और (त्रिविध) विवेक (अर्थात् काय विवेक, चित्त विवेक, विक्खम्भन विवेक) को बढ़ावा दे।

बालवग्गो पञ्चमो निट्ठितो।

## ६. पण्डितवर्गो

७६. निधीनंव पवत्तारं, यं पस्से वज्जदस्सिनं।  
निग्गख्खवादिं मेधाविं, तादिसं पण्डितं भजे।  
तादिसं भजमानस्स, सेय्यो होति न पापियो ॥

जो व्यक्ति अपना दोष दिखाने वाले को (भूमि में छिपी) संपदा दिखाने वाले की तरह समझे, जो संयम की बात करने वाले मेधावी पंडित की संगति करे, उस व्यक्ति का मंगल ही होता है, अमंगल नहीं।

७७. ओवदेय्यानुसासेय्य, असब्भा च निवारये।  
सत्तञ्चि सो पियो होति, असतं होति अप्पियो ॥

जो उपदेश दे, अनुशासन करे, अनुचित कार्य से रोके, वह सत्पुरुषों का प्रिय होता है और असत्पुरुषों का अप्रिय।

७८. न भजे पापके मित्ते, न भजे पुरिसाधमे।  
भजेथ मित्ते कल्याणे, भजेथ पुरिसुत्तमे ॥

न पापी मित्रों की संगत करे, न अधम पुरुषों की। संगति करे कल्याणमित्रों की, उत्तम पुरुषों की।

७९. धम्मपीति सुखं सेति, विप्पसन्नेन चेतसा।  
अरियप्पवेदिते धम्मे, सदा रमति पण्डितो ॥

बुद्ध के उपदेशित धर्म में सदा रमण करता है पंडित। (नवविध लोकोत्तर) धर्म (रस) का पान करने वाला विशुद्धचित्त हो सुखपूर्वक विहार करता है।

८०. उदकञ्चिनयन्ति नेत्तिका, उसुकरानमयन्ति तेजनं।  
दारुं नमयन्ति तच्छका, अत्तानं दमयन्ति पण्डिता ॥

पानी ले जाने वाले (जिधर चाहते हैं, उधर ही से) पानी को ले जाते हैं, बाण बनाने वाले बाण को (तपा कर) सीधा करते हैं, बड़ई लकड़ी को (अपनी रुचि के अनुसार) सीधा या बांका करते हैं, और पंडित (जन) अपना (ही) दमन करते हैं।

८१. सेलो यथा एकघनो, वातेन न समीरति।  
एवं निन्दापसंसासु, न समिज्जन्ति पण्डिता ॥

जैसे सघन शैल-पर्वत वायु से प्रकंपित नहीं होता, वैसे ही समझदार लोग निंदा और प्रशंसा (वस्तुतः, आठों लोक धर्मों) से विचलित नहीं होते।

८२. यथापि रहदो गम्भीरो, विष्पसन्नो अनाविलो।  
एवं धम्मनि सुत्वान, विष्पसीदन्ति पण्डिता ॥

(देशना-) धर्मों को सुनकर पंडित (जन) गहरे, स्वच्छ, निर्मल सरोवर के समान अत्यंत प्रसन्न (संतुष्ट) होते हैं।

८३. सब्बत्थ वे सप्पुरिसा चजन्ति,  
न कामकामा लपयन्ति सन्तो।  
सुखेन फुट्ठा अथ वा दुखेन,  
न उच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति ॥

सत्पुरुष सर्वत्र (पांचों स्कंधों में) छंदराग छोड़ देते हैं। संत जन कामभोगों के लिए बात नहीं चलाते। चाहे सुख मिले या दुःख, पंडित (जन) (अपने मन का) उतार-चढ़ाव प्रदर्शित नहीं करते।

८४. न अत्तहेतु न परस्स हेतु,  
न पुत्तमिच्छे न धनं न रद्धं।  
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो,  
स सीलवा पज्जवा धम्मिको सिया ॥

जो अपने लिए या दूसरे के लिए पुत्र, धन अथवा राज्य की कामना नहीं करता और न अधर्म से अपनी उन्नति चाहता है, वह शीलवान, प्रज्ञावान और धार्मिक होता है।

८५. अप्पका ते मनुस्सेसु, ये जना पारगामिनो।  
अथायं इतरा पजा, तीरमेवानुधावति ॥

मनुष्यों में (भवसागर से) पार जाने वाले लोग विरले ही होते हैं। ये दूसरे लोग तो (सत्कण्टकदृष्टिरूपी) तट पर ही दौड़ने वाले होते हैं।

८६. ये च खो सम्मदक्खाते, धम्मे धम्मनुवत्तिनो।  
ते जना पारमेस्सन्ति, मच्चुधेय्यं सुदुत्तरं ॥

जो लोग सम्यक प्रकारसे आख्यात धर्म का अनुवर्तन करते हैं, वे अति दुस्तर मृत्यु-क्षेत्र के पार चले जायेंगे।

**८७. क ण्हं धम्मं विप्पहाय, सुक्कं भावेथ पण्डितो।  
ओका अनोक मागम्म, विवेके यत्थ दूरमं ॥**

पंडित कृष्णधर्म को त्याग कर शुक्ल (धर्म) की भावना करे (अर्थात्, पापकर्म को छोड़ कर शुभ कर्म करे।) वह घर से बेघर होकर (सामान्य व्यक्ति के लिए) आकर्षणरहित एकांत का सेवन करे।

**८८. तत्राभिरतिमिच्छेय्य, हित्वा कामे अकिञ्चनो।  
परियोदपेय्य अत्तानं, चित्तक्लेसेहि पण्डितो ॥**

कामनाओं को त्याग कर अकिंचन (बना हुआ व्यक्ति) वहीं (उसी अवस्था में) रमण करने की इच्छा करे। समझदार (व्यक्ति) (पांच नीवरणरूपी) चित्तमलों से अपने आपको परिशुद्ध करे।

**८९. येसं सम्बोधियङ्गेषु, सम्मा चित्तं सुभावितं।  
आदानपटिनिस्सग्गे, अनुपादाय ये रता।  
खीणासवा जुत्तिमन्तो, ते लोके परिनिब्बुता ॥**

संबोधि के अंगों में जिनका चित्त सम्यक प्रकारसे भावित (अभ्यस्त) हो गया है, जो परिग्रह का परित्याग कर अपरिग्रह में रत हैं, आश्रवों (चित्तमलों) से रहित ऐसे द्युतिमान (पुरुष ही) लोक में निर्वाण-प्राप्त हैं।

पण्डितवग्गो छट्ठो निद्धितो।

## ७. अरहन्तवग्गो

९०. गतद्धिनो विसोकस्स, विप्पमुत्तस्स सब्बधि।  
सब्बगन्थप्पहीनस्स, परिळाहो न विज्जति ॥

जिसकी यात्रा पूरी हो गयी है, जो शोक रहित है, सर्वथा विमुक्त है, जिसकी सभी ग्रंथियां कट गयी हैं, उसके लिए (कायिक और चैतसिक) संताप (नाम की कोई चीज) नहीं है।

९१. उय्युज्जन्ति सतीमन्तो, न निके ते रमन्ति ते।  
हंसाव पल्ललं हित्वा, ओक मोकं जहन्ति ते ॥

स्मृतिमान उद्योग करते रहते हैं, वे घर में रमण नहीं करते। जैसे हंस क्षुद्र जलाशय को छोड़ कर चले जाते हैं, वैसे ही वे घर-बार (अथवा, सभी ठौर-ठिकानों को) छोड़ देते हैं।

९२. येसं सन्निचयो नत्थि, ये परिज्जातभोजना।  
सुज्जतो अनिमित्तो च, विमोक्खो येसं गोचरो।  
आकासे व सकुन्तानं, गति तेसं दुरन्नया ॥

जो (कर्मों और प्रत्ययों का) संचय नहीं करते, जिन्हें (अपने) आहार (की मात्रा का) पूरा पूरा ज्ञान है, शून्यतास्वरूप तथा निमित्तरहित निर्वाण जिनकी गोचरभूमि है, उनकी गति वैसे ही अज्ञेय रहती है जैसे आकाश में पक्षियों की (गति)।

९३. यस्सासवा परिक्खीणा, आहारे च अनिस्सितो।  
सुज्जतो अनिमित्तो च, विमोक्खो यस्स गोचरो।  
आकासे व सकुन्तानं, पदं तस्स दुरन्नयं ॥

जिसके आश्रव (चित्त-मल) पूरी तरह से क्षीण हो गये हैं, जो आहार में आसक्त नहीं है, शून्यतास्वरूप तथा निमित्तरहित निर्वाण जिनकी गोचरभूमि है, उनकी गति वैसे ही अज्ञेय रहती है जैसे आकाश में पक्षियों की (गति)।

९४. यस्सिन्द्रियानि समथङ्गतानि, अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता।  
पहीनमानस्स अनासवस्स, देवापि तस्स पिहयन्ति तादिनो ॥

सारथि द्वारा सुदांत (सुशिक्षित) घोड़ों के समान जिसकी इंद्रियां शांत हो गयी

हैं, जिसका अभिमान विगलित हो गया है, जो आश्रवरहित है, देवगण भी वैसे (व्यक्ति) की स्पृहा करते हैं।

**१५. पथविसमो नो विरुज्झति, इन्द्रखिलुपमो तादि सुब्बतो।  
रहदोव अपेतकद्वमो, संसारा न भवन्ति तादिनो॥**

सुंदर व्रतधारी अर्हत (=तादि) पृथ्वी के समान क्षुब्ध न होने वाला और इंद्रकील के समान अकंप्य होता है। वैसे (व्यक्ति) को कर्मरहित जलाशय की भांति संसार (-मल) नहीं होते।

**१६. सन्तं तस्स मनं होति, सन्ता वाचा च कम्म च।  
सम्मदञ्जा विमुत्तस्स, उपसन्तस्स तादिनो॥**

सम्यक ज्ञान द्वारा मुक्त हुए उपशांत (अरहंत) का मन शांत हो जाता है, और वाणी तथा कर्म भी शांत हो जाते हैं।

**१७. अस्सद्धो अक तञ्जूच, सन्धिच्छेदो च यो नरो।  
हतावकासो वन्तासो, स वे उत्तमपोरिसो॥**

जो नर (अंध-) श्रद्धारहित, निर्वाण का जानकार, (भव-संसरण की) संधि का छेदन कि ये हुए, (पुनर्जन्म की) संभावनारहित और (सर्वप्रकार की) आशाएं त्यागे हुए हो, वह निःसंदेह उत्तम पुरुष होता है।

**१८. गामे वा यदि वारञ्जे, निन्ने वा यदि वा थले।  
यत्थ अरहन्तो विहरन्ति, तं भूमिरामणेय्यकं॥**

गांव हो या जंगल, भूमि नीची हो या (ऊंची), जहां (कहीं) अरहंत विहार करते हैं, वह भूमि रमणीय होती है।

**१९. रमणीयानि अरञ्जानि, यत्थ न रमती जनो।  
वीतरागा रमिस्सन्ति, न ते कामगवेसिनो॥**

रमणीय वन जहां (सामान्य) व्यक्ति रमण नहीं करते, (वहां) वीतराग (क्षीणाश्रव) रमण करेंगे (क्योंकि) वे कामभोगों की खोज में नहीं रहते।

अरहन्तवग्गो सत्तमो निट्ठितो।



## ८. सहस्सवगो

१००. सहस्समपि चे वाचा, अनत्थपदसंहिता।  
एकं अत्थपदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति ॥

निरर्थक पदों से युक्त हजार वचनों की अपेक्षा एक (अकेला) सार्थक पद श्रेयस्कर होता है जिसे सुनकर (कोई व्यक्ति) (रागादि के उपशमन से) शांत हो जाता है।

१०१. सहस्समपि चे गाथा, अनत्थपदसंहिता।  
एकं गाथापदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति ॥

निरर्थक पदों से युक्त हजार गाथाओं की अपेक्षा (वह) एक (अकेला सार्थक) गाथापद श्रेयस्कर होता है जिसे सुनकर (कोई व्यक्ति) शांत हो जाता है।

१०२. यो च गाथा सतं भासे, अनत्थपदसंहिता।  
एकं धम्मपदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति ॥

जो (कोई) निरर्थक पदों से युक्त सौ गाथाएं बोले उसकी अपेक्षा एक (अकेला सार्थक) धर्मपद श्रेयस्कर होता है जिसे सुनकर (कोई व्यक्ति) शांत हो जाता है।

१०३. यो सहस्सं सहस्सेन, सङ्गामे मानुसे जिने।  
एकञ्च जेय्यमत्तानं, स वे सङ्गामजुत्तमो ॥

हजारों हजार मनुष्यों को संग्राम में जीतने वाले से भी एक अपने आपको जीतने वाला कहीं उत्तम संग्राम-विजेता होता है।

१०४. अत्ता हवे जितं सेय्यो, या चायं इतरा पजा।  
अत्तदन्तस्स पोसस्स, निच्चं सञ्जतचारिनो ॥

इन अन्य लोगों को (द्यूत, धन-हरण, संग्राम अथवा बलाभिभव द्वारा) जीतने की अपेक्षा अपने आपको जीतना ही श्रेयस्कर है। जिस व्यक्ति ने स्वयं को दांत बना लिया है और जो अपने आपको नित्य संयत रखता है -

१०५. नेव देवो न गन्धब्बो, न मारो सह ब्रह्मना।  
जितं अपजितं कयिरा, तथारूपस्स जन्तुनो ॥

उस प्रकार के व्यक्ति की जीत को न तो देव, न गंधर्व और न (ही) ब्रह्मा सहित मार (ही) पराजय में बदल सकते हैं।

१०६. मासे मासे सहस्सेन, यो यजेथ सतं समं।  
एकञ्च भावित्तानं, मुहुत्तमपि पूजये।  
सायेव पूजना सेय्यो, यञ्चे वस्ससतं हुतं ॥

जो (कोई)सौ वर्षों तक महीने-महीने हजार रुपये से यज्ञ करे और (स्रोतापन्न से लेकरक्षीणाश्रव तक ) (कि सी) भावितात्म (व्यक्ति की) मुहूर्त्त-भर ही पूजा कर ले तो सौ वर्षों के यज्ञ की अपेक्षा वह (मुहूर्त्त-भर की) पूजा ही श्रेयस्क र होती है।

१०७. यो च वस्ससतं जन्तु, अग्निं परिचरे वने।  
एकञ्च भावित्तानं, मुहुत्तमपि पूजये।  
सायेव पूजना सेय्यो, यञ्चे वस्ससतं हुतं ॥

जो कोई व्यक्ति सौ वर्षों तक वन में अग्निहोत्र करे और (कि सी) भावितात्म (व्यक्ति की) मुहूर्त्त भर ही पूजा कर ले, तो सौ वर्षों के हवन से वह (मुहूर्त्त भर की) पूजा ही श्रेयस्क र होती है।

१०८. यं किञ्चियिदं व हुतं व लोके, संवच्छरं यजेथ पुञ्जपेक्खो।  
सब्बम्पि तं न चतुभागमेत्ति, अभिवादाना उज्जुगतेसु सेय्यो ॥

पुण्य की इच्छा से जो कोई संसार में वर्ष-भर यज्ञ-हवन करे, तो भी वह (स्रोतापन्न से लेकरक्षीणाश्रव की कि सी अवस्था को प्राप्त) सरलचित्त (व्यक्तियों) को किये जाने वाले अभिवादन के चतुर्थांश के बराबर भी नहीं होता।

१०९. अभिवादानसीलिस्स, निच्चं बुद्धापचायिनो।  
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति, आयु वण्णो सुखं बलं ॥

जो अभिवादनशील है (और) नित्य बड़े-बूढ़ों की सेवा करता है, उसकी (ये) चार बातें बढ़ती हैं - आयु, वर्ण, सुख और बल।

११०. यो च वस्ससतं जीवे, दुस्सीलो असमाहितो।  
एकं हि जीवितं सेय्यो, सीलवन्तस्स ज्ञायिनो ॥

दुःशील और चित्त की एकग्रता से रहित (व्यक्ति) के सौ वर्ष के जीवन से शीलवान और ध्यानी (व्यक्ति) का एक दिन का जीवन श्रेयस्क र होता है।

१११. यो च वस्ससतं जीवे, दुप्पज्जो असमाहितो।  
एकं हि जीवितं सेय्यो, पज्जवन्तस्स ज्ञायिनो ॥

दुष्प्रज्ञ और चित्त की एकाग्रता से रहित (व्यक्ति) के सौ वर्ष के जीवन से प्रज्ञावान और ध्यानी (व्यक्ति) का एक दिन का जीवन श्रेयस्कर होता है।

**११२. यो च वस्ससतं जीवे, कु सीतो हीनवीरियो।**

**एकहं जीवितं सेय्यो, वीरियमारभतो दळ्हं ॥**

आलसी और उद्योगरहित (व्यक्ति) के सौ वर्ष के जीवन से वृद्ध उद्योग करने वाले (व्यक्ति) का एक दिन का जीवन श्रेयस्कर होता है।

**११३. यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं उदयब्बयं।**

**एकहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो उदयब्बयं ॥**

(पंचस्कंधके) उदय-व्यय को न देखने वाले (व्यक्ति) के सौ वर्ष के जीवन से उदय-व्यय को देखने वाले (व्यक्ति) का एक दिन का जीवन श्रेयस्कर होता है।

**११४. यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं अमतं पदं।**

**एकहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो अमतं पदं ॥**

अमृत-पद (निर्वाण) को न देखने वाले (व्यक्ति) के सौ वर्ष के जीवन से अमृत-पद को देखने वाले (व्यक्ति) का एक दिन का जीवन श्रेयस्कर होता है।

**११५. यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं धम्ममुत्तमं।**

**एकहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो धम्ममुत्तमं ॥**

उत्तम धर्म (नवविध लोकोत्तरधर्म अर्थात् चार मार्ग, चार फल और निर्वाण) को न देखने वाले व्यक्ति के सौ वर्ष के जीवन से उत्तम धर्म को देखने वाले (व्यक्ति) का एक दिन का जीवन श्रेयस्कर होता है।

सहस्सवग्गो अट्ठमो निट्ठितो।

## ९. पापवग्गो

११६. अभित्थरेथ कल्याणे, पापा चित्तं निवारये।  
दन्धञ्जि क रोतो पुञ्जं, पापस्मिं रमती मनो ॥

पुण्य (कर्म) करने में जल्दी करे, पाप (कर्म) से चित्त को हटाये, क्योंकि धीमी गति से पुण्य (कर्म) करने वाले का मन पाप (कर्म) में लीन होने लगता है।

११७. पापञ्चे पुरिसो क यिरा, न नं क यिरा पुनप्पुनं।  
न तस्मिं छन्दं क यिराथ, दुक्खो पापस्स उच्चयो ॥

यदि पुरुष (कभी) पाप (कर्म) कर डाले, तो उसे बार-बार (तो) न करे। वह उसमें रुचि न ले, क्योंकि पाप (कर्मों) का संचय दुःख (का कारण) होता है।

११८. पुञ्जञ्चे पुरिसो क यिरा, क यिरा नं पुनप्पुनं।  
तस्मिं छन्दं क यिराथ, सुखो पुञ्जस्स उच्चयो ॥

यदि पुरुष (कभी) पुण्य (कर्म) करे, तो उसे बार-बार करे। वह उसके प्रति उत्साह जगाये, (क्योंकि) पुण्य (कर्मों) का संचय सुख (का कारण) होता है।

११९. पापोपि पस्सति भद्रं, याव पापं न पच्चति।  
यदा च पच्चति पापं, अथ पापो पापानि पस्सति ॥

पापी भी (पाप को) (तब तक) अच्छा ही समझता है जब तक पाप का विपाक नहीं होता। और जब पाप का विपाक होता है, तब पापी पापों को देखने लगता है।

१२०. भद्रोपि पस्सति पापं, याव भद्रं न पच्चति।  
यदा च पच्चति भद्रं, अथ भद्रो भद्रानि पस्सति ॥

भद्र (पुण्य करने वाला व्यक्ति) भी तब तक पाप को देखता है जब तक पुण्य का विपाक नहीं होता। जब पुण्य का विपाक होता है, तब (वह) भद्र (व्यक्ति) पुण्यों को देखने लगता है।

१२१. मावमञ्जेथ पापस्स, न मं तं आगमिस्सति।  
उदविन्दुनिपातेन, उदकुम्भोपि पूरति।  
बालो पूरति पापस्स, थोकं थोकमि आचिनं ॥

‘वह मेरे पास नहीं आया’ - ऐसा (सोच कर) पाप की अवहेलना न करे।

बूंद बूंद पानी गिरने से घड़ा भर जाता है। (ऐसे ही) थोड़ा थोड़ा संचय करता हुआ मूढ़ (व्यक्ति भी) पाप से भर जाता है।

**१२२. मावमञ्ज्थ पुञ्जस्स, न मं तं आगमिस्सति ।  
उदविन्दुनिपातेन, उदकुम्भोपि पूरति ।  
धीरो पूरति पुञ्जस्स, थोकं थोक म्पि आचिनं ॥**

‘वह मेरे पास नहीं आयगा’ - ऐसा (सोच कर) पुण्य की अवहेलना न करे। बूंद बूंद पानी गिरने से घड़ा भर जाता है। (ऐसे ही) थोड़ा थोड़ा संचय करता हुआ धीर (व्यक्ति) पुण्य से भर जाता है।

**१२३. वाणिजोव भयं मगं, अप्पसत्थो महद्धनो ।  
विसं जीवितुकामोव, पापानि परिवज्जये ॥**

जैसे छोटे काफिले (परंतु) विपुल धन वाला व्यापारी भययुक्त मार्ग को, अथवा जीवित रहने की इच्छा वाला (व्यक्ति) विष को (छोड़ देता है), (वैसे ही) (मनुष्य) पापों को छोड़ दे।

**१२४. पाणिमिहे चे वणो नास्स, हरेय्य पाणिना विसं ।  
नाब्बणं विसमन्वेति, नत्थि पापं अकुब्बतो ॥**

यदि हाथ में व्रण (घाव) न हो तो हाथ से विष को ले सकता है (क्योंकि) व्रणरहित (घावरहित) (शरीर में) विष नहीं चढ़ता है। (ऐसे ही) (पापकर्म) न करने वाले को पाप नहीं लगता।

**१२५. यो अप्पदुड्डस्स नरस्स दुस्सति, सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स ।  
तमेव बालं पच्चेति पापं, सुखुमो रजो पटिवातं व खित्तो ॥**

जो निरपराध, निर्मल, दोषरहित व्यक्ति पर दोषारोपण करता है, उस (दोष लगाने वाले) मूर्ख को ही पाप लगता है; (जैसे कि) पवन की उल्टी दिशा में फेंकी गयी सूक्ष्म रज (फेंकने वाले पर ही आ गिरती है।)

**१२६. गब्भमेके उप्पज्जन्ति, निरयं पापकम्मिनो ।  
सगं सुगतिनो यन्ति, परिनिब्बन्ति अनासवा ॥**

कोई (मनुष्य लोक में) गर्भ में उत्पन्न होते हैं, पापकर्मों में (जाते हैं), सुगति वाले स्वर्ग में जाते हैं, और अनाश्रव (चित्तमलरहित) निर्वाण-लाभ करते हैं।

**१२७. न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्जे, न पब्बतानं विवरं पविस्स ।  
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो, यत्थद्धितो मुच्चेय्य पापक म्मा ॥**

न (अनंत) आकाश में, न समुद्र (की गहराइयों) में, न पर्वतों की (गुहा-)  
कंदराओं में प्रवेश करके- (इस) जगत में, कहीं भी तो ऐसा स्थान नहीं है जहां  
ठहरा हुआ (कोई) अपने पापकर्मों (अकुशलसंस्कारों के कर्मफलों) को भोगने से  
बच सके ।

**१२८. न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्जे, न पब्बतानं विवरं पविस्स ।  
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो, यत्थद्धितं नप्पसहेय्य मच्चु ॥**

न (अनंत) आकाश में, न समुद्र (की गहराइयों) में, न पर्वतों की (गुहा-)  
कंदराओं में प्रवेश करके- (इस) जगत में कहीं भी तो ऐसा स्थान नहीं है जहां  
ठहरे हुए को मृत्यु न पकड़ ले, न दबोच लें।

पापवग्गो नवमो निद्धितो ।

## १०. दण्डवगो

१२९. सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बे भायन्ति मच्चुनो।  
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥

सभी दंड से डरते हैं। सभी को मृत्यु से भय लगता है। (अतः) (सभी को) अपने जैसा समझ कर न (किसी की) हत्या करे, न हत्या करने के लिए प्रेरित करे।

१३०. सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बेसं जीवितं पियं।  
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥

सभी दंड से डरते हैं। जीवित रहना सबकोप्रिय लगता है। (अतः) (सभी को) अपने जैसा समझ कर न (किसी की) हत्या करे, न हत्या करने के लिए प्रेरित करे।

१३१. सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन विहिंसति।  
अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो न लभते सुखं॥

जो सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह से, दंड से विहिंसित करता है (कष्ट पहुंचाता है), वह मर कर सुख नहीं पाता।

१३२. सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन न हिंसति।  
अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो लभते सुखं॥

जो सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह से, दंड से विहिंसित नहीं करता (कष्ट नहीं पहुंचाता है), वह मर कर सुख पाता है।

१३३. मावोच फरुसं कच्चि, वुत्ता पटिवदेय्यु तं।  
दुक्खा हि सारम्भक था, पटिदण्डा फु सेय्यु तं॥

तुम किसी को कठोर वचन मत बोलो, बोलने पर (दूसरे भी) तुम्हें वैसे ही बोलेंगे। क्रोधया विवाद भरी वाणी दुःख है। उसके बदले में तुम्हें दंड मिलेगा।

१३४. सचे नेरेसि अत्तानं, कंसो उपहतो यथा।  
एस पत्तोसि निब्बानं, सारम्भो ते न विज्जति॥

यदि (तुम) अपने आपको टूटे हुए कांसे के समान निःशब्द कर लो, तो

(समझो तुमने) निर्वाण पा लिया (क्योंकि) तुममें कोई विवाद नहीं रह गया, कोई प्रतिवाद नहीं रह गया।

**१३५. यथा दण्डेन गोपालो, गावो पाजेति गोचरं।  
एवं जरा च मच्चु च, आयुं पाजेन्ति पाणिनं ॥**

जैसे ग्वाला लाठी से गायों को चरागाह में हांक कर ले जाता है, वैसे ही बुढ़ापा और मृत्यु प्राणियों की आयु को हांक कर ले जाते हैं।

**१३६. अथ पापानि कम्मनि, करं बालो न बुज्जति।  
सेहि कम्मेहि दुम्मेथो, अग्गिदट्ठोव तप्पति ॥**

बाल बुद्धि वाला मूर्ख (व्यक्ति) पापकर्म करते हुए होश नहीं रखता। (परंतु समय पाकर) अपने उन्हीं कर्मों के कारण वह दुर्मध (दुर्बुद्धि) ऐसे तपता है जैसे आग से जला हो।

**१३७. यो दण्डेन अदण्डेसु, अप्पदुट्ठेसु दुस्सति।  
दसन्नमज्जतरं ठानं, खिप्पमेव निगच्छति ॥**

जो दंडरहितों (क्षीणाश्रवों) को दंड से (पीड़ित करता है) या निर्दोषों को दोष लगाता है, उसे इन दस बातों में से कोई एक बात शीघ्र ही होती है -

**१३८. वेदनं फरुसं जानिं, सरीरस्स च भेदनं।  
गरुकं वापि आबाधं, चित्तक्खेपज्च पापुणे ॥**

(१) तीव्र वेदना, (२) हानि, (३) अंगभंग, (४) बड़ा रोग, (५) चित्तविक्षेप (उन्माद),

**१३९. राजतो वा उपसगं, अब्भक्खानञ्च दारुणं।  
परिक्खयञ्च जातीनं, भोगानञ्च पभङ्गुरं ॥**

(६) राजदंड, (७) कड़ी निंदा, (८) संबंधियों का विनाश, (९) भोगों का क्षय, अथवा

**१४०. अथ वास्स अगारानि, अग्गि इहति पावको।  
कायस्स भेदा दुप्पज्जो, निरयं सोपपज्जति ॥**

इसके घर को आग जला डालती है। शरीर छूटने पर वह दुष्प्रज्ञ नरक में उत्पन्न होता है।



**१४१. न नगचरिया न जटा न पङ्का, नानासक ।थण्डिलसायिक ।वा ।  
रजोजल्लं उक्कु टिक प्पधानं,सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णक ङ्कं ॥**

जिस मनुष्य के संदेह समाप्त नहीं हुए हैं उसकी शुद्धि न जंगे रहने से, न जटा (धारण करने) से, न कीचड़ (लपेटने) से, न उपवास करने से, न कड़ी भूमि पर सोने से, न कादा पोतने से, और न उकड़ू बैठने से ही होती है।

**१४२. अलङ्कृतो चेपि समं चरेय्य, सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी ।  
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं, सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खु ॥**

(वस्त्र, आभूषण आदि से) अलंकृत रहते हुए भी यदि कोई शांत, दान्त, स्थिर (नियंत्रित), ब्रह्मचारी है तथा सारे प्राणियों के प्रति दंड त्याग कर समता का आचरण करता है, तो वह ब्राह्मण है, श्रमण है, भिक्षु है।

**१४३. हिरीनिसेधो पुरिसो, कोचि लोकस्मि विज्जति ।  
यो निन्दं अपवोधेति, अस्सो भद्रो कसामिव ॥**

संसार में कोई (कोई) पुरुष ऐसा भी होता है जो (स्वयं ही) लज्जा के मारे निषिद्ध (कर्म) नहीं करता। वह निंदा को नहीं सह सकता, जैसे सधा हुआ घोड़ा चाबुक को (नहीं सह सकता)।

**१४४. अस्सो यथा भद्रो कसानिविद्धो, आतापिनो संवेगिनो भवाथ ।  
सद्धाय सीलेन च वीरियेन च, समाधिना धम्मविनिच्छयेन च ।  
सम्पन्नविज्जाचरणा पतिस्सता, जहिस्सथ दुक्खमिदं अनप्पकं ॥**

चाबुक खाये उत्तम घोड़े के समान उद्योगशील और संवेगशील बनो। श्रद्धा, शील, वीर्य, समाधि और धर्म-विनिश्चय से युक्त हो विद्या और आचरण से संपन्न और स्मृतिमान बन इस महान दुःख-समूह का अंत कर सकोगे।

**१४५. उदकं ज्झिनयन्ति नेत्तिकं, उसुकं ।रानमयन्ति तेजनं ।  
दारुं नमयन्ति तच्छकं, अत्तानं दमयन्ति सुब्बता ॥**

पानी ले जाने वाले (जिधर चाहते हैं उधर ही) पानी को ले जाते हैं, बाण बनाने वाले बाण को (तपा कर) सीधा करते हैं, बड़ई लकड़ी को (अपनी रुचि के अनुसार) सीधा या बांका करते हैं, और सदाचार-परायण अपना (ही) दमन करते हैं।

दण्डवग्गो दसमो निट्ठितो ।

## ११. जरावगो

१४६. कोनु हासो कि मानन्दो, निच्चं पज्जलिते सति ।  
अन्धकारेण ओनद्धा, पदीपं न गवेसथ ॥

जहां प्रतिक्षण (सब कुछ) जल ही रहा हो, वहां कैसी हँसी? कैसा आनंद? (कैसा आमोद? कैसा प्रमोद?) ऐ (अविद्यारूपी) अंधकार से घिरे हुए (भोले लोगो!) तुम (ज्ञानरूपी) प्रकाश-प्रदीप की खोज क्यों नहीं करते?

१४७. पस्स चित्तकत्तं बिम्बं, अरुकायं समुस्सितं ।  
आतुरं बहुसङ्कप्पं, यस्स नत्थि धुवं ठित्ति ॥

देखो (इस) चित्रित शरीर को जो व्रणों से युक्त, फूलहुआ, रोगी और नाना (प्रकार के) संकल्पों से युक्त है (और) जो सदा बना रहने वाला नहीं है।

१४८. परिजिण्णमिदं रूपं, रोगनीळं पभङ्गुरं ।  
भिज्जति पूत्तिसन्देहो, मरणन्तज्झि जीवितं ॥

यह शरीर जीर्ण-शीर्ण, रोग का घर और नितांत भंगुर है। सड़ांध से भरी हुई (यह) देह टुकड़े-टुकड़े हो जाती है; जीवन मरणांतक जो ठहरा!

१४९. यानिमानि अपत्थानि, अलाबूनेव सारदे ।  
कापोत्तकानिअट्टीनि, तानि दिस्वान कारति ॥

शरद कालकीफें कीगयी (अपथ्य) लौकीके समान (कु म्हालायेहुए मृत शरीर को देख कर) या कबूतरोंके से वर्ण वाली (श्मशान में पड़ी) हड्डियों को देख कर किसको (इस देह से) अनुराग होगा?

१५०. अट्टीनं नगरं कत्तं, मंसलोहितलेपनं ।  
यत्थ जरा च मच्चु च, मानो मक्खो च ओहित्तो ॥

यह हड्डियों का नगर बना है जो मांस और रक्त से लेपा गया है; जिसमें जरा, मृत्यु, अभिमान और म्रक्ष (डाह) छिपे हुए हैं।

१५१. जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता, अथो सरीरम्पि जरं उपेत्ति ।  
सत्तच्च धम्मो न जरं उपेत्ति, सन्तो हवे सत्थि पवेदयन्ति ॥

रंग-बिरंगे सुचित्रित राजरथ जीर्ण हो जाते हैं और यह शरीर भी जीर्णता को

प्राप्त हो जाता है। (परंतु) संतों (बुद्धों) का धर्म जीर्ण नहीं होता (तरोताजा बना रहता है)। संतजन (बुद्ध) संतों से ऐसा (ही) कहते हैं।

**१५२. अप्पस्सुतायं पुरिसो, बलिबद्दोव जीरति।  
मंसानि तस्स वड्ढन्ति, पज्जा तस्स न वड्ढति ॥**

अज्ञानी पुरुष बैल के समान जीर्ण होता है। उसका मांस बढ़ता है, प्रज्ञा नहीं।

**१५३. अनेक जातिसंसारं, सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।  
गहकारं गवेसन्तो, दुक्खा जाति पुनप्पुनं ॥**

(इस काया-रूपी) घर को बनाने वाले की खोज में (मैं) बिना रुके अनेक जन्मों तक (भव-) संसरण करता रहा, किंतु बार बार दुःख(-मय) जन्म ही हाथ लगे।

**१५४. गहकारक दिट्ठोसि, पुन गेहं न काहसि।  
सब्बा ते फासुका भग्गा, गहकूटं विसङ्गतं।  
विसङ्घारगतं चित्तं, तण्हानं खयमज्झगा ॥**

ऐ घर बनाने वाले! (अब) तू देख लिया गया है, (अब) फिर (तू) (नया) घर नहीं बना सकता। तेरी सारी कड़ियां टूट गयी हैं और घर का शिखर भी विशृंखलित हो गया है। चित्त पूरी तरह संस्काररहित हो गया है और तृष्णाओं का क्षय (निर्वाण) प्राप्त हो गया है।

**१५५. अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा योव्वने धनं।  
जिण्णकोञ्चाव ज्ञायन्ति, खीणमच्छेव पल्लले ॥**

ब्रह्मचर्य का पालन किये बिना (अथवा) यौवन में धन कमाये बिना (लोग वृद्धावस्था में) मत्स्यहीन जलाशय में बूढ़े (जीर्ण) क्राँचपक्षी के समान घुट-घुट कर मरते हैं।

**१५६. अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा योव्वने धनं।  
सेन्ति चापातिखीणाव, पुराणानि अनुत्थुनं ॥**

ब्रह्मचर्य का पालन किये बिना (अथवा) यौवन में धन कमाये बिना (लोग वृद्धावस्था में) धनुष से छोड़े गये (बाण) की भांति पुरानी बातों को याद कर अनुताप करते हुए बिलखते हुए सोते हैं।

जरावग्गो एकादसमो निट्ठितो।

## १२. अत्तवग्गो

१५७. अत्तानञ्चे पियं जज्जा, रक्खेय्य नं सुरक्खितं।  
तिण्णं अज्जतरं यामं, पटिजग्गेय्य पण्डितो ॥

यदि अपने को प्रिय समझते हो तो उसको सुरक्षित रखो। समझदार (व्यक्ति) (जीवन के) तीन प्रहरों (अवस्थाओं - युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था) में से (कि सी) एक में (तो) अवश्य सचेत हो।

१५८. अत्तानमेव पठमं, पतिरूपे निवेशये।  
अथज्जमनुसासेय्य, न कि लिस्सेय्य पण्डितो ॥

पहले अपने आपको ही उचित (कार्य) में लगाये, फिर (कि सी) दूसरे को उपदेश करे, (तो) पंडित क्लेश को प्राप्त नहीं होगा।

१५९. अत्तानं चे तथा कयिरा, यथाज्जमनुसासति।  
सुदन्तो वत दमेथ, अत्ता हि किर दुद्दमो ॥

यदि पहले अपने को वैसा बनाये जैसा कि दूसरों को उपदेश देता है, तो अपने आपको सुदान्त करने वाला (भलीभांति वश में करने वाला) ही दूसरे का दमन कर सकता है।

१६०. अत्ता हि अत्तनो नाथो, कोहि नाथो परो सिया।  
अत्तना हि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं ॥

मनुष्य (व्यक्ति) अपना स्वामी आप है, भला दूसरा कौन स्वामी हो सकता है? अपने आपको भली-भांति वश में करके (प्रज्ञा द्वारा ही) यह दुर्लभ (स्वामित्व) प्राप्त होता है।

१६१. अत्तना हि कतं पापं, अत्तजं अत्तसम्भवं।  
अभिमत्थति दुम्मेधं, वजिरं वस्ममयं मणिं ॥

अपने से पैदा हुआ, अपने से उत्पन्न, अपने द्वारा कि या गया पाप(-कर्म) (इसे करने वाले) दुर्बुद्धि को उसी प्रकार पीड़ित करता है जिस प्रकार कि पापाणमय मणि को वज्र।

१६२. यस्स अच्चन्तदुस्सील्यं, मालुवा सालमिवोत्थतं।  
करोति सो तथत्तानं, यथा नं इच्छती दिसो ॥

शाल वृक्ष पर फैली हुई मालुवा लता के समान जिसका दुराचार खूब (फैला हुआ है), वह अपने आपको वैसा ही बना लेता है जैसा कि उसके शत्रु चाहते हैं।

१६३. सुकरानि असाधूनि, अत्तनो अहितानि च।  
यं वे हितञ्च साधुञ्च, तं वे परमदुक्करं॥

बुरे और अपने लिए अहितकारी (काम) करना सहल है, (किंतु) भला और हितकारी (काम) करना बड़ा दुष्कर है।

१६४. यो सासनं अरहतं, अरियानं धम्मजीविनं।  
पटिक्कोसति दुम्भेधो, दिट्ठिं निस्साय पापिकं।  
फलानि कट्टकस्सेव, अत्तघाताय फल्लति॥

धर्म का जीवन जीने वाले, आर्य, अरहंतों के शासन (=शिक्षा) की जो दुर्बुद्धि पापपूर्ण दृष्टि के कारण निंदा करता है, वह बांस के फल (फूल) की भांति आत्म-हत्या के लिए (ही) फलता (फूलता) है।

१६५. अत्तना हि कतं पापं, अत्तना संकि लिस्सति।  
अत्तना अकतं पापं, अत्तनाव विसुज्जति।  
सुद्धी असुद्धि पच्चत्तं, नाञ्जो अञ्जं विसोधये॥

अपने द्वारा किया गया पाप ही अपने को मैला करता है। स्वयं पाप न करते तो आदमी आप ही विशुद्ध बना रहे। शुद्धि-अशुद्धि तो प्रत्येक मनुष्य की अपनी-अपनी ही है। (अपने-अपने ही अच्छे-बुरे कर्मों के परिणामस्वरूप है।) कोई दूसरा भला किसी दूसरे को कैसे शुद्ध कर सकता है? (कैसे मुक्त कर सकता है?)

१६६. अत्तदत्थं परत्थेन, बहुनापि न हापये।  
अत्तदत्थमभिञ्जाय, सदत्थपसुतो सिया॥

परार्थ के लिए आत्मार्थ को बहुत ज्यादा भी न छोड़े। आत्मार्थ को जानकर सदर्थ में लगा रहे।

अत्तवग्गो द्वादसमो निट्ठितो।

### १३ . लोक वग्गो

१६७. हीनं धम्मं न सेवेय्य, पमादेन न संवसे।  
मिच्छादिद्विं न सेवेय्य, न सिया लोक वड्ढनो ॥

(पांच कामगुणों वाले) निकृष्ट धर्म का सेवन न करे, न प्रमाद में लिप्त हो।  
मिथ्यादृष्टि को न अपनाये, और अपने आवागमन को बढ़ाने वाला न बने।

१६८. उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य, धम्मं सुचरितं चरे।  
धम्मचारी सुखं सेति, अस्मिं लोके परम्हि च ॥

उठे (उत्साही बने), प्रमाद न करे, सुचरित धर्म का आचरण करे। धर्मचारी  
इस लोक और परलोक (दोनों जगह) सुखपूर्वक विहार करता है।

१६९. धम्मं चरे सुचरितं, न नं दुच्चरितं चरे।  
धम्मचारी सुखं सेति, अस्मिं लोके परम्हि च ॥

सुचरित धर्म का आचरण करे, दुराचरण से बचे। धर्मचारी इस लोक और  
परलोक (दोनों जगह) सुखपूर्वक विहार करता है।

१७०. यथा पुब्बुळकं पस्से, यथा पस्से मरीचिकं।  
एवं लोकं अवेक्खन्तं, मच्चुराजा न पस्सति ॥

जो (इस) लोक को बुलबुले के समान और मृग-मरीचिका के समान देखे, उस  
(ऐसे देखने वाले) की ओर मृत्युराज (आंख उठा कर) नहीं देखता।

१७१. एथ पस्सथिमं लोकं, चित्तं राजरथूपमं।  
यत्थ बाला विसीदन्ति, नत्थि सङ्गो विजानतं ॥

आओ, चित्रित राजरथ के समान इस लोक को देखो जहां मूढ़ (जन) आसक्त  
होते हैं, ज्ञानी जन आसक्त नहीं होते।

१७२. यो च पुब्बे पमज्जित्वा, पच्छा सो नप्पमज्जति।  
सोमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तोव चन्दिमा ॥

जो पहले प्रमाद करके (भी) पीछे प्रमाद नहीं करता, वह मेघमुक्त चंद्रमा की  
भांति इस लोक को प्रकाशित करता है।

१७३. यस्स पापं कतं कम्मं, कु सलेन पिधीयति।  
सोमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तोव चन्दिमा ॥

जो अपने पहले कि ये हुए पाप कर्मको (वर्तमान के) कुशल कर्मसे ढँक लेता है, वह मेघमुक्त चंद्रमा की भांति इस लोक को खूब भासमान करता है।

**१७४. अन्धभूतो अयं लोको, तनुकेत्थ विपस्सति।**

**सकुणो जालमुत्तोव, अप्पो सग्गाय गच्छति ॥**

यह लोक (प्रज्ञा चक्षु के अभाव में) अंधे जैसा है, यहां विपश्यना करने वाले थोड़े ही हैं। जाल से मुक्त हुए पक्षी की भांति विरले ही सुगति अथवा निर्वाण को जाते हैं। (बाकी तो जाल में ही फँसे रहते हैं।)

**१७५. हंसादिच्चपथे यन्ति, आकासे यन्ति इद्धिया।**

**नीयन्ति धीरा लोकम्हा, जेत्वा मारं सवाहिनिं ॥**

हंस सूर्य-पथ (आकाश) में जाते हैं, (कोई) ऋद्धि-बलसे आकाश में जाते हैं। पंडित लोग सेनासहित मार को जीत कर (इस) लोक से (निर्वाण को) ले जाते जाते हैं (अर्थात्, निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं।)

**१७६. एकं धम्मं अतीतस्स, मुसावादिस्स जन्तुनो।**

**वितिण्णपरलोकस्स, नत्थि पापं अकारियं ॥**

एक धर्म (सत्य) का अतिक्रमण कर जो झूठ बोलता है, परलोक के प्रति उदासीन ऐसे प्राणी के लिए कोई इस प्रकार का पाप नहीं रह जाता जो वह न कर सके।

**१७७. न वे क दरियादेवलोकं वजन्ति, बाला हवे नप्पसंसन्ति दानं।**

**धीरो च दानं अनुमोदमानो, तेनेव सो होति सुखी परत्थ ॥**

कृपण (लोग) देवलोक में नहीं जाते हैं, मूढ़ (लोग) ही दान की प्रशंसा नहीं करते हैं। पंडित (व्यक्ति) दान का अनुमोदन करता हुआ उसी (कर्म के आधार) से परलोक में सुखी होता है।

**१७८. पथव्या एक रज्जेन, सग्गस्स गमनेन वा।**

**सब्बलोकधिपच्चेन, सोतापत्तिफलं वरं ॥**

पृथ्वी के एक छत्र राज्य, अथवा स्वर्गारोहण, (अथवा) सारे लोकों के अधिपत्य से अधिक उत्तम है स्रोतापत्ति का फल।

लोकवग्गो तेरसमो निद्धितो।

## १४. बुद्धवग्गो

१७९. यस्स जितं नावजीयति, जितं यस्स नो याति कोचि लोके ।  
तं बुद्धमनन्तगोचरं, अपदं केन पदेन नेस्सथ ॥

जिसकी विजय को अविजय में नहीं पलटा जा सकता, जिसके द्वारा विजित (राग, द्वेष, मोहादि) वापस संसार में नहीं आते (पुनः नहीं बांधते), उस अपद अनंतगोचर बुद्ध को किस उपाय से मोहित (प्रलुब्ध) कर सकोगे ?

१८०. यस्स जालिनी विसत्तिकाम्, तण्हा नत्थि कुहिञ्चि नेतवे ।  
तं बुद्धमनन्तगोचरं, अपदं केन पदेन नेस्सथ ॥

जिसकी जाल फैलाने वाली विषाक्त तृष्णा कहीं भी ले जाने में समर्थ नहीं रही, उस अनंतगोचर बुद्ध को किस उपाय से मोहित (प्रलुब्ध) कर सकोगे ?

१८१. ये ज्ञानपसुता धीरा, नेक्खम्मूपसमे रता ।  
देवापि तेसं पिहयन्ति, सम्बुद्धानं सतीमतं ॥

जो पंडित (जन) ध्यान (करने) में लगे रहते हैं, और त्याग और उपशमन में लगे रहते हैं, उन स्मृतिमान संबुद्धों की देवता भी स्पृहा करते हैं।

१८२. किच्छोमनुस्सपटिलाभो, किच्छंमच्चान जीवितं ।  
किच्छं सद्धम्मस्सवनं, किच्छो बुद्धानमुप्पादो ॥

मनुष्य (योनि) प्राप्त होना कठिन है, मनुष्यों का जीवित रहना कठिन है, सद्धर्म का श्रवण (कर पाना) कठिन है और बुद्धों का उत्पन्न होना कठिन है।

१८३. सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा ।  
सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं ॥

सभी पापकर्मों (अकुशल कर्मों) को न करना, पुण्यकर्मों की संपदा संचित करना, (पांच नीवरणों से) अपने चित्त को परिशुद्ध करना (धोते रहना) - यही बुद्धों की शिक्षा है।

१८४. खन्ती परमं तपो तित्तिक्खा, निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा ।  
न हि पब्बजितो परूपघाती, न समणो होति परं विहेठयन्तो ॥

सहनशीलता और क्षमाशीलता परम तप है। बुद्ध (जन) निर्वाण को उच्च



बतलाते हैं। दूसरे का घात करने वाला प्रव्रजित नहीं होता और दूसरे को सताने वाला श्रमण नहीं हो सकता।

१८५. अनूपवादो अनूपघातो, पातिमोक्खे च संवरो।  
मत्तञ्जुता च भत्तस्मिं, पन्तञ्च सयनासनं।  
अधिचित्ते च आयोगो, एतं बुद्धान सासनं ॥

निंदा न करना, घात न करना, पातिमोक्ष (भिक्षु-नियमों) द्वारा अपने को सुरक्षित रखना, (अपने) आहार की मात्रा का जानकार होना, एकान्त में सोना-बैठना और चित्त को एकग्र करने के प्रयत्न में जुटना - यह (सभी) बुद्धों की शिक्षा है।

१८६. न क हापणवस्सेन, तित्ति कामेसु विज्जति।  
अप्पस्सादा दुखा कामा, इति विज्जाय पण्डितो ॥

स्वर्ण मुद्राओं की वर्षा से (भी) कामभोगों की तृप्ति नहीं हो सकती। यह जान कर कि कामभोग अल्प आस्वाद वाले और दुःखद होते हैं, (कोई) पंडित -

१८७. अपि दिब्बेसु कामेसु, रतिं सो नाधिगच्छति।  
तण्हक्खयरतो होति, सम्मासम्बुद्धसावको ॥

दैवी कामभोगों में भी आनंद प्राप्त नहीं करता। सम्यक संबुद्ध का श्रावक तृष्णा का क्षय करने में लगा रहता है।

१८८. बहुं वे सरणं यन्ति, पब्बतानि वनानि च।  
आरामरुक्खचेत्यानि, मनुस्सा भयतज्जिता ॥

मनुष्य भय के मारे पर्वतों, वनों, उद्यानों, वृक्षों, चैत्यों - आदि बहुतों की शरण में जाते हैं,

१८९. नेतं खो सरणं खेमं, नेतं सरणमुत्तमं।  
नेतं सरणमागम्म, सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥

(परंतु) यह शरण मंगलकारी नहीं है, यह शरण उत्तम नहीं है। इस शरण को पाकर सभी दुःखों से छुटकारा नहीं होता।

१९०. यो च बुद्धञ्च धम्मञ्च, सङ्गञ्च सरणं गतो।  
चत्तारि अरियसच्चानि, सम्मप्पञ्जाय पस्सति ॥

१९१. दुःखं दुःखसमुत्पादं, दुःखस्स च अतिक्क मं ।  
अरियं चट्ठङ्गिकं मग्गं, दुःखूपसमगामिनं ॥

१९२. एतं खो सरणं खेमं, एतं सरणमुत्तमं ।  
एतं सरणमागम्म, सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥

जो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण गया है, जो चार आर्य सत्यों - दुःख, दुःख की उत्पत्ति, दुःख से मुक्ति और मुक्तिगामी आर्य अष्टांगिक मार्ग - को सम्यक प्रज्ञा से देखता है, यही मंगलदायक शरण है, यही उत्तम शरण है। इसी शरण को प्राप्त कर (व्यक्ति) सभी दुःखों से मुक्त होता है।

१९३. दुल्लभो पुरिसाजज्जो, न सो सब्बत्थ जायति ।  
यत्थ सो जायति धीरो, तं कुलं सुखमेधति ॥

श्रेष्ठ पुरुष का जन्म दुर्लभ होता है, वह सब जगह पैदा नहीं होता। वह (उत्तम प्रज्ञा वाला) धीर (पुरुष) जहां उत्पन्न होता है उस कुल में सुख की वृद्धि होती है।

१९४. सुखो बुद्धानमुत्पादो, सुखा सद्धम्मदेसना ।  
सुखा सद्धस्स सामग्गी, समग्गानं तपो सुखो ॥

सुखदायी है बुद्धों का उत्पन्न होना, सुखदायी है सद्धर्म का उपदेश। सुखदायी है संघ की एकता, सुखदायी है एक साथ तपना।

१९५. पूजारहे पूजयतो, बुद्धे यदि व सावके ।  
पपञ्चसमतिक्कन्ते, तिण्णसोक परिद्वे ॥

पूजा के योग्य बुद्धों अथवा उनके श्रावकों- जो (भव-) प्रपंच का अतिक्रमण कर चुके हैं और शोक तथा भय को पार कर गये हैं -

१९६. ते तादिसे पूजयतो, निब्बुते अकुतोभये ।  
न सक्का पुज्जं सङ्घातुं, इमेत्तमपि के नचि ॥

निर्वाणप्राप्त, निर्भय हुए - ऐसे लोगों की पूजा के पुण्य का परिमाण इतना होगा, यह नहीं कहा जा सकता।

बुद्धवग्गो चुदसमो निद्धितो ।

## १५. सुखवग्गो

१९७. सुसुखं वत जीवाम, वेरिनेसु अवेरिनो।  
वेरिनेसु मनुस्सेसु, विहराम अवेरिनो ॥

वैरियों के बीच अवैरी होकर, अहो! हम बड़े सुख से जी रहे हैं। वैरी मनुष्यों के बीच हम अवैरी होकर विचरण करते हैं।

१९८. सुसुखं वत जीवाम, आतुरेसु अनातुरा।  
आतुरेसु मनुस्सेसु, विहराम अनातुरा ॥

(तृष्णा से) आतुर (-व्याकुल) लोगों के बीच, अहो! हम अनातुर (-अनाकुल) रह कर बड़े सुख से जी रहे हैं। आतुर (रोगी) मनुष्यों में हम अनातुर (नीरोग) रह कर विचरण करते हैं।

१९९. सुसुखं वत जीवाम, उस्सुकेसु अनुस्सुका।  
उस्सुकेसु मनस्सेसु, विहराम अनुस्सुका ॥

(कामभोगोंके प्रति) आसक्त (लोभी) लोगों के बीच हम अनासक्त (अलोभी) होकर, अहो! हम बड़े सुख से जी रहे हैं। लोभी के बीच हम निर्लोभी होकर विचरण करते हैं।

२००. सुसुखं वत जीवाम, येसं नो नत्थि किञ्चनं।  
पीतिभक्खा भविस्साम, देवा आभस्सरा यथा ॥

जिनके पास कुछ नहीं है, अहो! (वैसे हम) कैसे बड़े सुख से जी रहे हैं। आभास्वर देवताओं के समान हम प्रीति का (ही) भोजन करने वाले होंगे।

२०१. जयं वेरं पसवति, दुक्खं सेति पराजितो।  
उपसन्तो सुखं सेति, हित्वा जयपराजयं ॥

विजय वैर को जन्म देती है, पराजित (व्यक्ति) दुःख (की नींद) सोता है। जिसके (रागद्वेषादि) शांत हो गये हैं वह (क्षीणाश्रव) जय और पराजय को छोड़ कर सुख (की नींद) सोता है।

२०२. नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलि।  
नत्थि खन्धसमा दुक्खा, नत्थि सन्तिपरं सुखं ॥

राग के समान (कोई) आग नहीं, द्वेष के समान (कोई) दुर्भाग्य नहीं, पंचस्कंध

(रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) के समान (कोई) दुःख नहीं, शांति (निर्वाण) से बढ़ कर (कोई) सुख नहीं।

२०३. जिघच्छापरमा रोगा, सङ्घारपरमा दुखा।  
एतं जत्वा यथाभूतं, निब्बानं परमं सुखं॥

भूख (तृष्णा) सबसे बड़ा रोग है। भूख संस्कार सबसे बड़ा दुःख। (तृष्णा और उससे बनते संस्कारों को अपने भीतर विषयना साधना द्वारा) यथाभूत जानकर जो निर्वाण (प्राप्त होता) है, वह सबसे बड़ा सुख है।

२०४. आरोग्यपरमा लाभा, सन्तुष्टिपरमं धनं।  
विस्सासपरमा जाति, निब्बानं परमं सुखं॥

आरोग्य परम लाभ है, संतुष्टि परम धन है, विश्वास परम बंधु है, निर्वाण परम सुख है।

२०५. पविवेकरसं पित्वा, रसं उपसमस्स च।  
निद्वरो होति निष्पापो, धम्मपीतिरसं पिवं॥

पूर्ण एकान्त कारस-पान कर और (ऐसे ही) शांति (निर्वाण) कारस-पान कर व्यक्ति निडर होता है और धर्म-प्रीति कारस-पान कर वह निष्पाप हो जाता है।

२०६. साहु दस्सनमरियानं, सन्निवासो सदा सुखो।  
अदस्सनेन बालानं, निच्चमेव सुखी सिया॥

आर्यों (श्रेष्ठ पुरुषों) का दर्शन अच्छा होता है, संतों के साथ निवास सदा सुखकर होता है। मूढ़ (पुरुषों) के अदर्शन से सदा सुखी बने रहो।

२०७. बालसङ्गतचारी हि, दीघमद्धान सोचति।  
दुक्खो बालेहि संवासो, अमित्तेनेव सब्बदा।  
धीरो च सुखसंवासो, जातीनं व समागमो॥

मूढ़ (पुरुषों) के साथ संगत करने वाला दीर्घ काल तक शोक ग्रस्त रहता है, मूढ़ों का सहवास शत्रु के समान सदा दुःखदायी होता है, बंधुओं के समागम की भांति ज्ञानियों का सहवास सुखदायी होता है।

२०८. तस्माहि धीरञ्च पञ्जञ्च बहुस्तुतञ्च, धोरय्हसीलं वतवन्तमरियं।  
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं, भजेथ नक्खत्तपथं चन्दिमा॥

इसलिए धीर, प्रज्ञावान, बहुश्रुत, उद्योगी, व्रती, आर्य - ऐसे सुमेध सत्पुरुष  
का (एवंविध) साहचर्य करे जैसे चंद्रमा नक्षत्र-पथ का करता है।  
सुखवग्गो पन्नरसमो निद्वितो।

## १६. पियवग्गो

२०९. अयोगे युञ्जमत्तानं, योगस्मिञ्च अयोजयं।  
अत्थं हित्वा पियग्गाही, पिहेतत्तानुयोगिनं ॥

अनुचित कर्म (अयोनिसोमनसिकार) में लगा हुआ, उचित कर्म (योनिसोमनसिकार) में न लगने वाला और सदर्थ को छोड़ कर (पांच कामगुणरूपी) प्रिय को पकड़ने वाला (उस पुरुष की) स्पृहा करे जो आत्मोन्नति में लगा हो।

२१०. मा पियेहि समागञ्छि, अप्पियेहि कुदाचनं।  
पियानं अदस्सनं दुक्खं, अप्पियानञ्च दस्सनं ॥

प्रियों (सत्त्वों अथवा संस्कारों) का संग न करे और न कभी अप्रियों का ही। प्रियों का अदर्शन (न दिखना) दुःखदायी होता है और अप्रियों का दर्शन (अर्थात्, दिख जाना) भी दुःखदायी होता है।

२११. तस्मा पियं न कयिराथ, पियापायो हि पापको।  
गन्था तेसं न विज्जन्ति, येसं नत्थि पियाप्पियं ॥

इसलिए (कि सी को) प्रिय न बनाये, क्योंकि प्रिय का वियोग बुरा लगता है। जिनके (कोई) प्रिय-अप्रिय नहीं होते, उनके कोई बंधन नहीं होते।

२१२. पियतो जायती सोको, पियतो जायती भयं।  
पियतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं ॥

प्रिय (वस्तु) से शोक उत्पन्न होता है, प्रिय से भय उत्पन्न होता है। प्रिय (के बंधन) से विमुक्त (व्यक्ति) को शोक नहीं होता, फिर भय कहां से (होगा)?

२१३. पेमतो जायती सोको, पेमतो जायती भयं।  
पेमतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं ॥

प्रेम (करने) से शोक उत्पन्न होता है, प्रेम से भय उत्पन्न होता है। प्रेम (के बंधन) से विमुक्त (व्यक्ति) को शोक नहीं होता, फिर भय कहां से (होगा)?

२१४. रतिया जायती सोको, रतिया जायती भयं।  
रतिया विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं ॥

(पंचकामगुणात्मक) राग (करने) से शोक उत्पन्न होता है, राग से भय उत्पन्न

होता है। राग (के बंधन) से विमुक्त (व्यक्ति) को शोक नहीं होता, फिर भय कहां से (होगा)?

**२१५. कामतो जायती सोको, कामतो जायती भयं।  
कामतो विष्णुत्तस्स, नत्थि सोको कु तो भयं ॥**

काम (कामना) से शोक उत्पन्न होता है, काम से भय उत्पन्न होता है। काम से विमुक्त (व्यक्ति) को शोक नहीं होता। फिर भय कहां से (होगा)?

**२१६. तण्हाय जायती सोको, तण्हाय जायती भयं।  
तण्हाय विष्णुत्तस्स, नत्थि सोको कु तो भयं ॥**

(छः द्वारों पर होनेवाली) तृष्णा से शोक उत्पन्न होता है, तृष्णा से भय उत्पन्न होता है। तृष्णा से विमुक्त (व्यक्ति) को शोक नहीं होता, फिर भय कहां से (होगा)?

**२१७. सीलदस्सनसम्पन्नं, धम्मदुं सच्चवेदिनं।  
अत्तनो कम्म कुब्बानं, तं जनो कुरुते पियं ॥**

जो शीलसंपन्न, सम्यक दृष्टिसंपन्न, धर्मनिष्ठ (नव प्रकार के लोकोत्तरधर्मों में स्थित), सत्यवादी, कर्तव्यपरायण है, उसे लोग प्यार करते हैं।

**२१८. छन्दजातो अनक्खाते, मनसा च फुटो सिया।  
कामेसुच अप्पटिबद्धचित्तो, उद्धंसोतोति वुच्चति ॥**

जो अनाख्यात (अवर्णनीय, निर्वाण) का अभिलाषी हो, उसी में जिसका मन लगा हो, और (अनागामी मार्ग में होने से) कामभोगों में जिसका चित्त न रुंधा हो, वह ऊर्ध्वस्रोत कहा जाता है।

**२१९. चिरप्पवासिं पुरिसं, दूरतो सोत्थिमागतं।  
जातिमित्ता सुहज्जा च, अभिनन्दन्ति आगतं ॥**

(जैसे) चिरकाल तक परदेस में रहने के बाद दूर (देश) से सकुशल घर आये पुरुष का संबंधी, मित्र और हितैषीजन स्वागत करते हैं;

**२२०. तथेव कतपुञ्जम्पि, अस्मा लोका परं गतं।  
पुञ्जानि पटिगण्हन्ति, पियं जातीव आगतं ॥**

वैसे ही पुण्यकर्मा (पुरुष) के इस लोक से पर (-लोक) में जाने पर (उसके)

पुण्य उसका वैसे ही स्वागत करते हैं जैसे (अपने) प्रिय के लौटने पर उसके संबंधी (उसका स्वागत करते हैं)।

पियवग्गो सोळसमो निद्धितो।



## १७. क्रोधवग्गो

२२१. क्रोधं जहे विष्णुहेय्य मानं, संयोजनं सब्बमत्तिकमेय्य ।  
तं नामरूपस्मिमसज्जमानं, अकिञ्चनं नानुपतन्ति दुक्खा ॥

क्रोध को छोड़ दे, अभिमान का त्याग करे, सारे संयोजनों (बंधनों) को पार कर जाय। ऐसे नामरूप में आसक्त न होने वाले अपरिग्रही को दुःख संतप्त नहीं करते।

२२२. यो वे उप्पत्तितं क्रोधं, रथं भन्तं व वारये ।  
तमहं सारथिं ब्रूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो ॥

जो भड़के हुए क्रोधको (बड़े वेग से) घूमते हुए रथ के समान रोक ले, उसे मैं सारथि कहता हूँ, दूसरे लोग तो (मात्र) लगाम पकड़ने वाले होते हैं।

२२३. अक्कोधेन जिने क्रोधं, असाधुं साधुना जिने ।  
जिने कदरियं दानेन, सच्चेनालिकवादिनं ॥

अक्रोध से क्रोध को जीते, अभद्र को भद्र बन कर जीते, कृपण को दान से जीते और झूठ बोलने वाले को सत्य से (जीते)।

२२४. सच्चं भणे न कुज्जेय्य, दज्जा अप्पम्पि याचितो ।  
एतेहि तीहि ठानेहि, गच्छे देवान सन्तिके ॥

सच बोले, क्रोध न करे, मांगने पर थोड़ा रहते भी दे। इन तीन कारणों से (कोई व्यक्ति) देवताओं के निकट (अर्थात्, देवलोक में) चला जाता है।

२२५. अहिंसका ये मुनयो, निच्चं कायेन संवुता ।  
ते यन्ति अच्युतं ठानं, यत्थ गत्त्वा न सोचरे ॥

जो मुनि (जन) अहिंसक हैं और जो सदा काया में संयत रहते हैं, वे उस अच्युत (शाश्वत) स्थान (निर्वाण) को पा लेते हैं जहां पहुँच कर शोक नहीं करते।

२२६. सदा जागरमानानं, अहोरत्तानुसिक्खिनं ।  
निब्बानं अधिमुत्तानं, अत्थं गच्छन्ति आसवा ॥

जो सदा जागरूक रहते हैं, रात-दिन सीखने में लगे रहते हैं और जिनका अध्येय निर्वाण प्राप्त करना है, उनके आश्रय नष्ट हो जाते हैं।

२२७. पुराणमेतं अतुल, नेतं अज्जतनामिव।  
निन्दन्ति तुण्हमासीनं, निन्दन्ति बहुभाणिनं।  
मितभाणिमि निन्दन्ति, नत्थि लोके अनिन्दितो ॥

हे अतुल! यह पुरानी बात है, आज की नहीं - (लोग) चुप बैठे हुए की निंदा करते हैं, बहुत बोलने वाले की निंदा करते हैं, मितभाषी की भी निंदा करते हैं। संसार में अनिन्दित कोई नहीं है।

२२८. न चाहु न च भविस्सति, न चेतरहि विज्जति।  
एक न्तं निन्दितो पोसो, एक न्तं वा पसंसितो ॥

ऐसा पुरुष जिसकी निंदा ही निंदा होती हो, या प्रशंसा ही प्रशंसा, न (कभी) था, न होगा, न इस समय है।

२२९. यं चे विञ्जू पसंसन्ति, अनुविच्च सुवे सुवे।  
अच्छिद्दवुत्तिं मेधाविं, पञ्जासीलसमाहितं ॥

विज्ञ (लोग) सोच विचार कर जिस प्रज्ञा वा शील से युक्त, निर्दोष, मेधावी की दिन-प्रतिदिन प्रशंसा करते हैं -

२३०. निक्खं जम्बोनदस्सेव, को तं निन्दितुमरहति।  
देवापि नं पसंसन्ति, ब्रह्मनापि पसंसितो ॥

जम्बोनद सोने की अशर्फीके समान उसकी कौन निंदा कर सकता है? देवता भी उसकी प्रशंसा करते हैं, वह ब्रह्मा द्वारा भी प्रशंसित होता है।

२३१. कायप्पकोपं रक्खेय्य, कायेन संवुतो सिया।  
कायदुच्चरितं हित्वा, कायेन सुचरितं चरे ॥

कायिक चंचलता से बचा रहे, कायसे संयत रहे। कायिक दुराचार को त्याग कर शरीर से सदाचरण करे।

२३२. वचीपकोपं रक्खेय्य, वाचाय संवुतो सिया।  
वचीदुच्चरितं हित्वा, वाचाय सुचरितं चरे ॥

वाचिक चंचलता से बचा रहे, वाणी से संयत रहे। वाचिक दुराचार को त्याग कर वाणी का सदाचरण करे।

२३३. मनोपकोपं रक्खेय्य, मनसा संवुतो सिया।  
मनोदुच्चरितं हित्वा, मनसा सुचरितं चरे ॥

मानसिक चंचलता से बचे, मन से संयत रहे (उसे संयमित रखे)। मानसिक दुराचार को त्याग कर मानसिक सदाचरण करे।

**२३४. कायेन संवुता धीरा, अथो वाचाय संवुता।**

**मनसा संवुता धीरा, ते वे सुपरिसंवुता॥**

जो धीर पुरुष काय से संयत हैं, वाणी से संयत हैं, मन से संयत हैं, वे ही पूर्णतया संयत हैं।

कोधवग्गो सत्तरसमो निद्धितो।

## १८. मलवग्गो

२३५. पण्डुपलासोव दानिसि, यमपुरिसापि च ते उपट्ठिता ।  
उय्योगमुखे च तिट्ठसि, पाथेय्यम्पि च ते न विज्जति ॥

(अरे उपासक ! ) पीले पत्ते के समान इस समय तू है, यमदूत तेरे पास खड़े हैं (अर्थात्, अब तू मरणासन्न है), तू प्रयाण के लिए तैयार है और (कुशल कर्मों का) पाथेय (रास्ते की खुराक) तेरे पास कुछ नहीं है।

२३६. सो क रोहि दीपमत्तनो, खिप्पं वायम पण्डितो भव ।  
निद्धन्तमलो अनङ्गणो, दिब्बं अरियभूमिं उपेहिसि ॥

सो तू अपने लिए द्वीप (रक्षास्थल) बना, शीघ्र ही (साधना का) अभ्यास कर पंडित हो जा। (तू) मल का प्रक्षालन कर, निर्मल बन, दिव्य आर्यभूमि (पांच प्रकार की शुद्धावास भूमि) को पा लेगा।

२३७. उपनीतवयो च दानिसि, सम्पयातोसि यमस्स सत्तिके ।  
वासो ते नत्थि अन्तरा, पाथेय्यम्पि च ते न विज्जति ॥

अब तेरी आयु समाप्त हो चुकी है, तू यम के निकट पहुँच गया है, बीच में तेरा कोई ठिकाना भी नहीं है और न ही तेरे पास (कोई) पाथेय (रास्ते की खुराक) है।

२३८. सो क रोहि दीपमत्तनो, खिप्पं वायम पण्डितो भव ।  
निद्धन्तमलो अनङ्गणो, न पुनं जातिजरं उपेहिसि ॥

सो तू अपने लिए द्वीप बना, शीघ्र ही (साधना का) अभ्यास कर पंडित हो जा। (तू) मल का प्रक्षालन कर, निर्मल बन, पुनः जन्म, जरा (रोग तथा मृत्यु) के बंधन में नहीं पड़ेगा।

२३९. अनुपुब्बेन मेधावी, थोकं थोकं खणे खणे ।  
कम्मरो रजतस्सेव, निद्धमे मलमत्तनो ॥

समझदार व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने मैल को क्रमशः थोड़ा-थोड़ा क्षण-प्रतिक्षण वैसे ही दूर करे जैसे कि रजतकार (सुनार) चांदी के मैल को दूर करता है।

२४०. अयसाव मलं समुट्ठितं, तदुट्ठाय तमेव खादति ।  
एवं अतिधोनचारिनं, सानि कम्मनिनयन्ति दुग्गतिं ॥

जैसे लोहे के ऊपर उठा हुआ मल (जंग) उसी पर उठ कर उसी को खाता है, वैसे ही मर्यादा का उल्लंघन करने वाले (व्यक्ति) के अपने (ही) कर्म (उसे) दुर्गति की ओर ले जाते हैं।

**२४१. असज्जायमला मन्ता, अनुद्गानमला घरा।  
मलं वण्णस्स कोसज्जं, पमादो रक्खतो मलं ॥**

स्वाध्याय न करना परियत्ति का मल है, मरम्मत न करना (झाड़ू-बुहारू न करना) घरों का मल है, आलस्य सौंदर्य का मल है और प्रमाद प्रहरी का मल है।

**२४२. मलित्थिया दुच्चरितं, मच्छेरं ददतो मलं।  
मला वे पापका धम्मा, अस्मिं लोके परम्हि च ॥**

दुश्चरित्र होना स्त्री का मल है, कृपणतादाता का मल है और (सभी) पापपूर्ण (अकुशल) धर्म इहलोक और परलोक के मल हैं।

**२४३. ततो मला मलतरं, अविज्जा परमं मलं।  
एतं मलं पहन्त्वान, निम्मला होथ भिक्खवो ॥**

उससे भी बढ़ कर अविद्या (आठ प्रकार का अज्ञान) परम मल है। हे साधको! इस मल को दूर करके निर्मल बन जाओ।

**२४४. सुजीवं अहिरिके न, काकसूरेन धंसिना।  
पक्खन्दिना पगब्भेन, संकि लिट्ठेन जीवितं ॥**

(पापाचार के प्रति) निर्लज्ज, कौवे के समान (छीनने में) शूर, (परहित-) विनाशी, आत्मश्लाघी (शेखीखोर) (बड़बोल), दुःसाहसी, मलिन (पुरुष) का जीवन सुखपूर्वक बीतता हुआ (देखा जाता है)।

**२४५. हिरीमता च दुज्जीवं, निच्चं सुचिगवेसिना।  
अलीनेनाप्पगब्भेन, सुद्धाजीवेन पस्सता ॥**

(पापाचार के प्रति) लजालु, नित्य पवित्रता का ध्यान रखने वाले, अप्रमादी, अनुच्छृंखल, शुद्ध जीविका वाले (पुरुष) के जीवन को कठिनाई से बीतते (देखा जाता है)।

**२४६. यो पाणमतिपातेति, मुसावादञ्च भासति।  
लोके अदिन्नमादियति, परदारञ्च गच्छति ॥**

२४७. सुरामेरयपानञ्च, यो नरो अनुयुञ्जति।  
इधेवमेसो लोकसिंम, मूलं खणति अत्तनो ॥

जो संसार में हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, परस्त्रीगमन करता है, मद्यपान (सुरा एवं मेरय का पान) करता है, वह व्यक्ति यहीं - इसी लोक में - अपनी जड़ खोदता है।

२४८. एवं भो पुरिस जानाहि, पापधम्मा असञ्जता।  
मा तं लोभो अधम्मो च, चिरं दुक्खाय रन्धयुं ॥

हे पुरुष! ऐसा जान कि अकुशलधर्म पर संयम करना आसान नहीं है। तुझे लोभ (राग) तथा अधर्म (पाप, अकुशलधर्म) चिरकाल तक दुःख में न रंधते (पकाते) रहें।

२४९. ददाति वे यथासद्धं, यथापसादनं जनो।  
तत्थ यो मङ्गु भवति, परेसं पानभोजने।  
न सो दिवा वा रत्ति वा, समाधिमधिगच्छति ॥

लोग अपनी श्रद्धा और प्रसन्नता के अनुरूप दान देते हैं। दूसरों के खाने-पीने से जो खिन्न होता है वह दिन हो या रात (कभी भी) (उपचार अथवा अर्पणा) समाधि को प्राप्त नहीं करता है।

२५०. यस्स चेतं समुच्छिन्नं, मूलघच्चं समूहत्तं।  
स वे दिवा वा रत्ति वा, समाधिमधिगच्छति ॥

(किंतु) जिसकी ऐसी मनोवृत्ति उच्छिन्न हो गयी है (समूल नष्ट हो गयी है) वही, दिन हो या रात (सदैव), एकाग्रता को प्राप्त होता है।

२५१. नत्थि रागसमो अग्नि, नत्थि दोससमो गहो।  
नत्थि मोहसमं जालं, नत्थि तण्हासमा नदी ॥

राग के समान अग्नि नहीं है, न द्वेष के समान जकड़न। मोह के समान फंदा नहीं है, न तृष्णा के समान नदी।

२५२. सुदस्सं वज्जमज्जेसं, अत्तनो पन दुद्दसं।  
परेसं हि सो वज्जानि, ओपुनाति यथा भुसं।  
अत्तनो पन छादेति, कल्लिव कि तवा सरो ॥

दूसरों का दोष देखना आसान है, किंतु अपना (दोष) देखना कठिन। वह

(व्यक्ति) दूसरों के दोषों को भूसे की तरह उड़ाता फिरता है, किंतु अपने दोषों को वैसे ही ढँकता है जैसे बेईमान जुआरी पासे को।

**२५३. परवज्जानुपस्सिस्स, निच्चं उज्झानसज्जिनो।**

**आसवा तस्स वड्ढन्ति, आरा सो आसवक्खया ॥**

दूसरों के दोषों को देखने में लगे हुए, सदा शिकायत करने की चेतना वाले (व्यक्ति) के आश्रव (चित्त-मल) बढ़ते हैं। वह आश्रवों के क्षय से दूर होता है।

**२५४. आकासेव पदं नत्थि, समणो नत्थि बाहिरे।**

**पपञ्चाभिरता पजा, निप्पपञ्चा तथागता ॥**

आकाशमें कोई पद (चिह्न) नहीं होता, (बुद्ध-शासन से) बाहर (कोई) श्रमण नहीं होता। लोग भांति-भांति के प्रपंचों में पड़े रहते हैं, (किंतु) तथागत निष्प्रपंच होते हैं।

**२५५. आकासेव पदं नत्थि, समणो नत्थि बाहिरे।**

**सङ्घारा सस्सता नत्थि, नत्थि बुद्धानमिज्जितं ॥**

आकाशमें (कोई) पद (चिह्न) नहीं होता, (बुद्ध-शासन से) बाहर (मुक्ति के मार्ग पर चलता हुआ या मुक्ति का फल-प्राप्त) (कोई) श्रमण नहीं होता, संस्कार (पांच स्कंध) शाश्वत नहीं होते, बुद्धों में (किसी प्रकारकी) चंचलता नहीं होती।

मलवग्गो अट्टारसमो निट्ठितो।

## १९. धम्मट्टवग्गो

२५६. न तेन होति धम्मट्टो, येनत्थं साहसा नये।  
यो च अत्थं अनत्थञ्च, उभो निच्छेय्य पण्डितो ॥

जो (व्यक्ति) सहसा किसी बात का निश्चय कर ले, वह धर्मिष्ठ नहीं कहा जाता। जो अर्थ और अनर्थ दोनों का चिंतन कर निश्चय करे वह पंडित (कहलाता है)।

२५७. असाहसेन धम्मेन, समेन नयती परे।  
धम्मस्स गुत्तो मेधावी, “धम्मट्टो”ति पवुच्चति ॥

जो (व्यक्ति) धीरज के साथ, धर्मपूर्वक, निष्पक्ष होकर दूसरों का मार्गदर्शन करता है, वह धर्मरक्षक मेधावी ‘धर्मिष्ठ’ कहा जाता है।

२५८. न तेन पण्डितो होति, यावता बहु भासति।  
खेमी अवेरी अभयो, “पण्डितो”ति पवुच्चति ॥

(संघ के बीच) बहुत बोलने से (कोई) पंडित नहीं हो जाता। (कुशल-)क्षेम से रहने वाला, वैर-रहित तथा निर्भय (व्यक्ति) ही ‘पंडित’ कहा जाता है।

२५९. न तावता धम्मधरो, यावता बहु भासति।  
यो च अप्पमि सुत्वान, धम्मं कायेन पस्सति।  
स वे धम्मधरो होति, यो धम्मं नप्पमज्जति ॥

बहुत बोलने से (कोई) धर्मधर नहीं हो जाता। जो (कोई) थोड़ी सी भी (धर्म की बात) सुन कर काय से धर्म का दर्शन करने लगता है (अर्थात्, विपश्यना करने लगता है) और जो धर्म (के आचरण) में प्रमाद नहीं करता, वही निःसंदेह ‘धर्मधर’ होता है।

२६०. न तेन थेरो सो होति, येनस्स पलितं सिरा।  
परिपक्कोवयो तस्स, “मोघजिण्णो”ति वुच्चति ॥

सिर के (बाल) पकने से (कोई) स्थविर नहीं हो जाता, (केवल) उसकी आयु पकी है, वह तो ‘मोघजीर्ण’ (व्यर्थ का वृद्ध हुआ) कहा जाता है।

२६१. यम्हि सच्चञ्च धम्मो च, अहिंसा संयमो दमो।  
स वे वन्तमलो धीरो, “थेरो” इति पवुच्चति ॥



जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम है, वही विगतमल, धृतिसंपन्न स्थविर कहा जाता है।

**२६२. न वाक्करणमत्तेन, वण्णपोक्खरताय वा।  
साधुरूपो नरो होति, इस्सुकी मच्छरी सठे ॥**

जो ईर्ष्यालु, मत्सरी और शठ है, वह वक्तामात्र होने से अथवा सुंदर-रूप होने से 'साधुरूप' मनुष्य नहीं हो जाता।

**२६३. यस्स चेतं समुच्छिन्नं, मूलघच्चं समूहत्तं।  
स वन्तदोसो मेधावी, "साधुरूपो"ति वुच्चति ॥**

जिसके (भीतर से) ये (ईर्ष्या, मात्सर्य आदि) जड़मूल से सर्वथा उच्छिन्न हो गये हैं, वह विगतदोष मेधावी (पुरुष) 'साधुरूप' कहा जाता है।

**२६४. न मुण्डकेन समणो, अब्बतो अलिकं भणं।  
इच्छालोभसमापन्नो, समणो किं भविस्सति ॥**

जो (शीलव्रत और धुतांगव्रत पालन न करने से) अव्रती है (और) जो झूठ बोलने वाला है, वह सिर मुँड़ा लेने (मात्र) से श्रमण नहीं हो जाता। इच्छा और लोभ से ग्रस्त भला क्या श्रमण होगा?

**२६५. यो च समेति पापानि, अणुं थूलानि सब्बसो।  
समित्ता हि पापानं, "समणो"ति पवुच्चति ॥**

जो छोटे-बड़े पापों का सर्वशः शमन कर लेता है, पापों के शमित होने के कारण वह 'श्रमण' कहा जाता है।

**२६६. न तेन भिक्खु सो होति, यावता भिक्खते परे।  
विस्सं धम्मं समादाय, भिक्खु होति न तावता ॥**

दूसरों से भिक्षा मांगने (मात्र) से (कोई) भिक्षु नहीं हो जाता, और न ही भिक्षु होता है विषम धर्म को ग्रहण करने से।

**२६७. योध पुञ्जच्च पापञ्च, बाहेत्वा ब्रह्मचरियवा।  
सङ्घाय लोके चरति, स वे "भिक्खू"ति वुच्चति ॥**

जो यहां (इस शासन में) पुण्य और पाप को दूर रखकर, ब्रह्मचारी बन, विचार करके लोक में विचरण करता है, वही वस्तुतः 'भिक्षु' कहा जाता है।

२६८. न मोनेन मुनी होति, मूळरूपो अविद्वसु।  
यो च तुलं व पग्गह, वरमादाय पण्डितो ॥

अविद्वान और मूढ़-समान (पुरुष) (केवल) मौन रहने से मुनि नहीं हो जाता। जो पंडित तराजू के समान तोल कर (शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, विमुक्तिज्ञानदर्शन-रूपी) उत्तम (तत्त्व) को ग्रहण कर -

२६९. पापानि परिवज्जेति, स मुनी तेन सो मुनि।  
यो मुनाति उभो लोके, “मुनि” तेन पवुच्चति ॥

पाप(-कर्मों) का परित्याग कर देता है, वह मुनि होता है - इस बात से वह मुनि होता है। चूंकि वह दोनों लोकों का मनन करता है, इस कारण वह ‘मुनि’ कहा जाता है।

२७०. न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति।  
अहिंसा सब्बाणानं, “अरियो”ति पवुच्चति ॥

प्राणियों की हिंसा करने से (कोई) आर्य नहीं हो जाता। सभी प्राणियों की हिंसा न करने से वह ‘आर्य’ कहा जाता है।

२७१. न सीलब्बतमत्तेन, बाहुसच्चेन वा पन।  
अथ वा समाधिलाभेन, विवित्तसयनेन वा ॥

केवल शील (पालने) और व्रत (करने) से, या बहुश्रुत होने से, या समाधि के लाभ से, या एकांत में शयन करने (एकांतवासी होने) से -

२७२. फु सामि नेक्खम्मसुखं, अपुथुज्जनसेवितं।  
भिक्षु विस्सासमापादि, अप्पत्तो आसवक्खयं ॥

‘पृथग्जन (अज्ञ) जिसे सेवन नहीं कर सकते (मैंने) उस नैष्कर्म्य-सुखको प्राप्त कर लिया है’ ऐसा सोच है भिक्षुओ! आश्रवों का क्षय न हो जाने तक (तुम) आश्वस्त होकर (अर्थात्, चैन से) मत (बैठे) रहो।

धम्मद्वग्गो एकू नवीसत्तिमो निट्ठितो।

## २०. मगवगो

२७३. मगानदुङ्गिको सेदो, सच्चानं चतुरो पदा।  
विरागो सेदो धम्मानं, द्विपदानञ्च चक्खुमा ॥

मार्गों में अष्टांगिक मार्ग श्रेष्ठ है, सच्चाइयों में चार आर्य-सत्य, धर्मों में वीतरागता श्रेष्ठ है, (देवमनुष्यादि) द्विपदों में चक्षुमान बुद्ध।

२७४. एसेव मगो नत्थञ्जो, दस्सनस्स विसुद्धिया।  
एतञ्चि तुम्हे पटिपज्जथ, मारस्सेतं पमोहनं ॥

दर्शन की विशुद्धि (ज्ञान की प्राप्ति) के लिए यही मार्ग है, (कोई) दूसरा नहीं। तुम इसी पर आरूढ़ होओ, यह मार को हक्का-बक्का करने वाला, किंकर्तव्यविमूढ़ बनाने वाला है।

२७५. एतञ्चि तुम्हे पटिपन्ना, दुक्खस्सन्तं करिस्सथ।  
अक्खातो वो मया मगो, अञ्जाय सल्लक न्तनं ॥

इस (मार्ग) पर आरूढ़ होकर तुम दुःख का अंत कर लोगे। मेरे द्वारा शल्य काटनेवाले इस मार्ग को स्वयं जान कर तुम्हारे लिए आख्यान कि यागया है।

२७६. तुम्हेहि कि च्चमातप्पं, अक्खातारो तथागता।  
पटिपन्ना पमोक्खन्ति, ज्ञायिनो मारबन्धना ॥

तपना तो तुम्हें ही पड़ेगा, तथागत तो (मार्ग) आख्यात करते हैं। इस (मार्ग) पर आरूढ़ होकर रध्यान करनेवाले मार के बंधन से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।

२७७. “सब्बे सङ्गारा अनिच्चा”ति, यदा पञ्जाय पस्सति।  
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मगो विसुद्धिया ॥

“सारे संस्कार अनित्य हैं” (याने, जो कुछ उत्पन्न होता है वह नष्ट होता ही है)। इस (सच्चाई) को जब कोई (विपश्यना-) प्रज्ञा से देख (-जान) लेता है, तब उसको दुःखों से निर्वेद प्राप्त होता है (अर्थात्, दुःख-क्षेत्र के प्रति भोक्ताभाव टूट जाता है) - ऐसा है यह विशुद्धि (विमुक्ति) का मार्ग!

२७८. “सब्बे सङ्गारा दुक्खा”ति, यदा पञ्जाय पस्सति।  
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मगो विसुद्धिया ॥

“सारे संस्कार दुःख हैं” (याने, जो कुछ उत्पन्न होता है, वह नाशवान होने के

कारण दुःख ही है)। इस (सच्चाई) को जब कोई (विपश्यना-) प्रज्ञा से देख (-जान) लेता है, तब उसको सभी दुःखों से निर्वेद प्राप्त होता है (अर्थात्, दुःख-क्षेत्र के प्रति भोक्ताभाव टूट जाता है) - ऐसा है यह विशुद्धि (विमुक्ति) का मार्ग!

२७९. “सब्बे धम्मा अनत्ता”ति, यदा पञ्जाय पस्सति ।

अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ॥

“सभी धर्म अनात्म हैं” (याने, लोकीय अथवा लोकोत्तर जो कुछ भी है, वह सब अनात्म है, ‘मैं’ ‘मेरा’ नहीं है)। इस (सच्चाई) को जब कोई (विपश्यना-) प्रज्ञा से देख (-जान) लेता है, तब उसको सभी दुःखों से निर्वेद प्राप्त होता है (अर्थात्, दुःख-क्षेत्र के प्रति भोक्ताभाव टूट जाता है) - ऐसा है यह विशुद्धि (विमुक्ति) का मार्ग!

२८०. उट्टानकालम्हि अनुट्टहानो, युवा बली आलसियं उपेतो ।

संसन्नसङ्कप्पमनो कु सीतो, पञ्जाय मगं अलसो न विन्दति ॥

जो उद्योग करने के समय उद्योग नहीं करता, युवा और बलशाली होने पर भी आलस्य करता है, मन के संकल्पों को गिरा देता है, निर्वीर्य होता है - ऐसा आलसी (व्यक्ति) प्रज्ञा का मार्ग नहीं पा सकता।

२८१. वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो, कायेन च नाकु सलं कयिरा ।

एते तयो कम्मपथे विसोधये, आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं ॥

वाणी को संयत रखे, मन को संयत रखे और शरीर से कोई अकुशल (काम) न करे। इन तीनों कर्मपथों (कर्मद्वियों) का विशोधन करे। ऋषि (बुद्ध) के बताये (अष्टांगिक) मार्ग का अनुसरण करे।

२८२. योगा वे जायती भूरि, अयोगा भूरिसङ्खयो ।

एतं द्वेषापथं जत्वा, भवाय विभवाय च ।

तथात्तानं निवेसेय्य, यथा भूरि पवहति ॥

योग (के अभ्यास) से प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसके अभाव से उसका क्षय होता है। उत्पत्ति और विनाश के (योग तथा अयोग - इन) दो प्रकार के मार्गों को जान कर अपने आपको इस प्रकार विनियोजित करे जिससे प्रज्ञा की भरपूर वृद्धि हो।

२८३. वनं छिन्दथ मा रुक्खं, वनतो जायते भयं ।

छेत्वा वनञ्च वनथञ्च, निब्बना होथ भिक्खवो ॥

वन (आसक्ति) को काटो, वृक्ष (शरीर) को नहीं। भय वन से पैदा होता है। हे साधको! वन को, और झाड़ (तृष्णा) को काट कर अनासक्त हो जाओ।

२८४. याव हि वनथो न छिज्जति, अणुमत्तोपि नरस्स नारिसु।  
पटिवद्धमनोव ताव सो, वच्छो खीरपकोव मातरि ॥

जब तक अणुमात्र (जरा-सी) भी नर की नारियों के प्रति कामना बनी रहती है, तब तक जैसे दूध पीने वाला बछड़ा माता में आबद्ध रहता है वैसे ही वह नर भी (उनमें) आसक्त रहता है।

२८५. उच्छिन्द सिनेहमत्तनो, कु मुदंसारदिकं वपाणिना।  
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय, निब्बानं सुगतेन देसितं ॥

जिस प्रकार हाथ से शरद (ऋतु) के कुमुद को तोड़ा जाता है, उसी प्रकार अपने (हृदय से) स्नेह को उच्छिन्न कर डालो। सुगत (बुद्ध) द्वारा उपदिष्ट (इस) शांतिमार्ग निर्वाण को ही भावित करो।

२८६. इध वस्सं वसिस्सामि, इध हेमन्तगिम्हिसु।  
इति बालो विचिन्तेति, अन्तरायं न बुज्जति ॥

(मैं) यहां वर्षाकाल में रहूंगा, यहां हेमंत और ग्रीष्म में - मूढ़ (व्यक्ति) इस प्रकार सोचता है और (कि सी संभावित) बाधा को नहीं बूझता (कि मैं कि सी भी समय, देश अथवा उम्र में इस जीवन से कूच कर सकता हूँ)।

२८७. तं पुत्तपसुसम्मत्तं, व्यासत्तमनसं नरं।  
सुत्तं गामं महोघोव, मच्चु आदाय गच्छति ॥

जैसे सोये हुए गांव को (कोई) बड़ी बाढ़ बहा कर ले जाय, वैसे ही पुत्र और पशु के नशे में धुत्त आसक्तचित्त (व्यक्ति) को मृत्यु (पकड़ कर) ले जाती है।

२८८. न सन्ति पुत्ता ताणाय, न पिता नापि बन्धवा।  
अन्तके नाधिपन्नस्स, नत्थि जातीसु ताणता ॥

पुत्र रक्षा नहीं कर सकते, न पिता और न ही बंधुजन। जब मृत्यु पकड़ लेती है तब जाति वाले रक्षा नहीं कर सकते।

२८९. एतमत्थवसं जत्वा, पण्डितो सीलसंबुतो।  
निब्बानगमनं मग्गं, खिप्पमेव विसोधये ॥

इस तथ्य को जान कर शील में संयत पंडित (समझदार व्यक्ति) निर्वाण की ओर ले जाने वाले मार्ग का शीघ्र ही विशोधन करे।

मग्गवग्गो वीसत्तिमो निट्ठितो।

## २१. पकि ण्णक वग्गो

२९०. मत्तासुखपरिच्चागा, पस्से चे विपुलं सुखं।  
चजे मत्तासुखं धीरो, सम्पस्सं विपुलं सुखं ॥

यदि (कोई) धीर (व्यक्ति) थोड़े से सुख के परित्याग से विपुल (निर्वाण) सुख (कालाभ) देखे, तो (वह) विपुल सुख का ख्याल करके थोड़े से सुख को छोड़ दे।

२९१. परदुक्खूपधानेन, अत्तनो सुखमिच्छति।  
वेरसंसग्गसंसद्दो, वेरा सो न परिमुच्चति ॥

दूसरे को दुःख देकर जो अपने लिए सुख चाहता है, वैर के संसर्ग में पड़ कर वह वैर से मुक्त नहीं हो पाता।

२९२. यञ्जि कि च्चं अपविद्धं, अकि च्चं पन क यिरति।  
उन्नळानं पमत्तानं, तेसं वड्ढन्ति आसवा ॥

जो करणीय से हाथ खींच ले किंतु अकरणीय को करे, ऐसे खोखले (घमंडी) प्रमादियों के आश्रव (चित्तमल) बढ़ते हैं।

२९३. येसञ्च सुसमारद्धा, निच्चं कायगता सति।  
अकि च्चं ते न सेवन्ति, कि च्चे सातच्चक ारिनो।  
सतानं सम्पजानानं, अत्थं गच्छन्ति आसवा ॥

जिनकी कायानुस्मृतिनित्य उपस्थित रहती है (याने, जो सतत कायानुपश्यना करते रहते हैं, कायके प्रति एवं कायमें होने वाली संवेदनाओं के प्रति जागरूक रहते हैं), वे (साधक) कभी कोई अकरणीय काम नहीं करते, सदा करणीय ही करते हैं। (ऐसे) स्मृतिमान और प्रज्ञावान (साधकों) के आश्रव क्षय को प्राप्त होते हैं (उनके चित्त के मूल नष्ट होते हैं)।

२९४. मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च खत्तिये।  
रुद्धं सानुचरं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो ॥

माता (तृष्णा), पिता (अहंकार), दो क्षत्रिय राजाओं (शाश्वत दृष्टि और उच्छेद दृष्टि), अनुचर (राग) सहित राष्ट्र (बारह आयतन) का हनन कर ब्राह्मण (क्षीणाश्रव) दुःखरहित हो जाता है।

२९५. मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च सोत्थिये।  
वेयघपञ्चमं हन्त्वा, अनीधो याति ब्राह्मणो ॥

माता (तृष्णा), पिता (अहंकार), दो श्रोत्रिय (ब्राह्मण) राजाओं (शाश्वत वृष्टि और उच्छेद वृष्टि) और पांच व्याघ्रों में (पांच नीवरणों में) पांचवें (संदेह) का हनन कर ब्राह्मण (क्षीणाश्रव) दुःखरहित हो जाता है।

२९६. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावक।।  
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं बुद्धगता सति ॥

जिनकी दिन-रात, हर समय बुद्ध-विषयक स्मृति बनी रहती है, वे गौतम (भगवान बुद्ध) के श्रावक सदैव भली-भांति प्रबुद्ध (जाग्रत) बने रहते हैं।

२९७. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावक।।  
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं धम्मगता सति ॥

जिनकी दिन-रात, हर समय धर्म-विषयक स्मृति बनी रहता है, वे गौतम (भगवान बुद्ध) के श्रावक सदैव भली-भांति प्रबुद्ध बने रहते हैं।

२९८. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावक।।  
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं सङ्गता सति ॥

जिनकी दिन-रात, हर समय संघ-विषयक स्मृति बनी रहती है, वे गौतम (भगवान बुद्ध) के श्रावक सदैव भली-भांति प्रबुद्ध बने रहते हैं।

२९९. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावक।।  
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं कायगता सति ॥

जिनमें दिन-रात कायगता स्मृति (याने, काय के प्रति जागरूकता) की निरंतरता बनी रहती है, गौतम (भगवान बुद्ध) के वे श्रावक सदैव भली-भांति प्रबुद्ध बने रहते हैं।

३००. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावक।।  
येसं दिवा च रत्तो च, अहिंसाय रत्तो मनो ॥

जिनका मन दिन-रात अहिंसा में रमा रहता है, वे गौतम (भगवान बुद्ध) के श्रावक सदैव भली-भांति प्रबुद्ध बने रहते हैं।

३०१. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावक।।  
येसं दिवा च रत्तो च, भावनाय रत्तो मनो ॥



जिनका मन दिन-रात (मैत्री) भावना में रत रहता है, वे गौतम (भगवान बुद्ध) के श्रावक सदैव भली-भांति प्रबुद्ध बने रहते हैं।

३०२. दुष्पब्बज्जं दुरभिरमं, दुरावासा घरा दुखा।  
दुक्खोसमानसंवासो, दुक्खानुपत्तितद्दगू।  
तस्मा न चद्दगू सिया, न च दुक्खानुपत्तितो सिया ॥

कष्टपूर्ण प्रव्रज्या में रत रहना दुष्कर होता है, न रहने योग्य घर दुःखद होते हैं, असमान (व्यक्ति) से सहवास दुःखदायी होता है, मार्ग (आवागमन) का पथिक होना दुःखपूर्ण होता है। इसलिए न तो (संसाररूपी) मार्ग का पथिक बने और न दुःख में पड़ने वाला बने।

३०३. सद्धो सीलेन सम्पन्नो, यसोभोगसमप्पित्तो।  
यं यं पदेसं भजति, तत्थ तत्थेव पूजितो ॥

श्रद्धावान, शीलवान, और यश और भोग से युक्त (कुलपुत्र) जिस-जिस प्रदेश में जाता है वहीं-वहीं (लाभ-सत्कार से) पूजित होता है।

३०४. दूरे सन्तो पकासेन्ति, हिमवन्तोव पब्बतो।  
असन्तेत्थ न दिस्सन्ति, रत्तिं खित्ता यथा सरा ॥

संत (लोग) हिमालय पर्वत के समान दूर से ही प्रकाशमान होते हैं, (किंतु) असंत (दुर्जन) यहीं (पास में होने पर भी) रात में फेंके गये बाण की भांति दिखलायी नहीं देते।

३०५. एकासनं एकसेय्यं, एको चरमतन्दितो।  
एको दमयमत्तानं, वनन्ते रमितो सिया ॥

एक आसन रखने वाला, एक शय्या रखने वाला, तन्द्रा रहित हो एकाकी विचरण करने वाला, अपने को दमन कर अकेला ही (स्त्री, पुरुष, शब्दादि से विरहित) वनांत में रमण करे।

पकि ण्णक वग्गो एक वीसत्तिमो निट्ठितो।

## २२. निरयवग्गो

३०६. अभूतवादी निरयं उपेत्ति, यो वापि कत्वा न करोमि चाह।  
उभोपि ते पेच्च समा भवन्ति, निहीनकम्मा मनुजा परत्थ ॥

असत्य बोलने वाला नरक में जाता है, और वह भी जो कि (पापकर्म) करके 'नहीं कि या' - ऐसा कहता है। दोनों ही प्रकारके नीच कर्म करनेवाले मनुष्य मर कर परलोक में एक-समान हो जाते हैं।

३०७. कासावकण्ठा बहवो, पापधम्मा असञ्जता।  
पापा पापेहि कम्मेहि, निरयं ते उपपज्जरे ॥

कंठमें काषाय (वस्त्र) डाले कि तनेही पापधर्मा (पापी) असंयमी हैं जो अपने पापकर्मों से नरक में उत्पन्न होते हैं।

३०८. सेय्यो अयोगुल्लो भुत्तो, तत्तो अग्गिसिखूपमो।  
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो, रट्ठपिण्डमसञ्जतो ॥

असंयमी, दुराचारी होकर राष्ट्र का अन्न खाने से अग्नि-शिखा के समान तप्त लोहे के गोले को खाना अधिक अच्छा है।

३०९. चत्तारि ठानानि नरो पमत्तो, आपज्जति परदारूपसेवी।  
अपुञ्जलाभं न निकामसेय्यं, निन्दं ततीयं निरयं चतुत्थं ॥

प्रमादी परस्त्रीगामी की चार गतियां होती हैं - (१) अपुण्य-लाभ, (२) सुख की नींद न आना, (३) निंदा, और (४) नरक।

३१०. अपुञ्जलाभोचगतीचपापिक।भीतस्स भीतायस्तीचथोकि क।।  
राजा च दण्डं गरुकं पणेत्ति, तस्मा नरो परदारं न सेवे ॥

(अथवा) अपुण्य-लाभ, बुरी गति, भयभीत (पुरुष) की भयभीत (स्त्री) से अत्यल्प कामक्रीड़ा और राजा का (हाथ-पैर काटने जैसा) भारी दंड देना। इसलिए पुरुष परस्त्रीगमन न करे।

३११. कुसो यथा दुग्गतो, हत्थमेवानुकन्तति।  
सामञ्जं दुप्परामडं, निरयायुपकङ्कति ॥

जैसे ठीक से न पकड़ा गया कुश (=तीक्ष्ण धार वाला तृण) हाथ को ही छेद

देता है, (वैसे ही) गलत प्रकार से ग्रहण कि या गया श्रामण्य नरक की ओर खींच ले जाता है।

**३१२. यं किञ्चि सिथिलं कम्पं, संकि लिट्ज्व यं वतं।  
सङ्कसरं ब्रह्मचरियं, न तं होति महष्कलं॥**

जो कोई कर्म शिथिलता से किया जाय, जो व्रत मलिन है और जो ब्रह्मचर्य अशुद्ध है, वह बड़ा फल देने वाला नहीं होता।

**३१३. कयिरा चे कयिराथेनं, दळ्हेमेनं परक्कमे।  
सिथिलो हि परिब्बाजो, भिय्यो आकि रते रजं॥**

यदि (कोई काम) करना हो तो उसे करे, उसमें दृढ़ पराक्रम के साथ लग जाय। शिथिल परिव्राजक (अपने भीतर रागरजादि होने से) अधिक मल बिखेरता है।

**३१४. अकतं दुक्कटं सेय्यो, पच्छा तप्पति दुक्कटं।  
कतञ्च सुकतं सेय्यो, यं कत्वा नानुत्पत्ति॥**

दुष्कृत (बुरे काम) का न करना श्रेयस्क र है (क्योंकि) दुष्कृत करने वाला पीछे अनुताप करता है; और सुकृत (अच्छे काम) का करना श्रेयस्क र है जिसे करके (पीछे) अनुताप नहीं करना पड़ता।

**३१५. नगरं यथा पच्चन्तं, गुत्तं सन्तरवाहिरं।  
एवं गोपेथ अत्तानं, खणो वो मा उपच्चगा।  
खणातीता हि सोचन्ति, निरयम्हि समप्पिता॥**

जैसे (कोई) सीमावर्ती नगर भीतर-बाहर से (खूब) रक्षित होता है, वैसे ही अपने आपको रक्षित रखे। क्षण भर भी न चूके, क्योंकि क्षण को चूके हुए लोग नरक में पड़ कर शोक करते हैं।

**३१६. अलज्जिताये लज्जन्ति, लज्जिताये न लज्जरे।  
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं॥**

जो अलज्जा (के काम) में लज्जा करते हैं और लज्जा (के काम) में लज्जा नहीं करते, मिथ्या दृष्टि से ग्रस्त वे सत्त्व (प्राणी) दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

**३१७. अभये भयदस्सिनो, भये चाभयदस्सिनो।  
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं॥**

भयरहित (काममें) भय देखने वाले और भय (के काम) में भय को न देखने वाले मिथ्या दृष्टि से ग्रस्त सत्त्व (प्राणी) दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

३१८. अवज्जे वज्जमतिनो, वज्जे चावज्जदस्सिनो।

मिच्छादिद्विसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥

अदोष में दोष बुद्धि रखने वाले और दोष में अदोष दृष्टि रखने वाले मिथ्या दृष्टि से ग्रस्त सत्त्व (प्राणी) दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

३१९. वज्जञ्च वज्जतो जत्वा, अवज्जञ्च अवज्जतो।

सम्मादिद्विसमादाना, सत्ता गच्छन्ति सुग्गतिं ॥

दोष को दोष, और अदोष को अदोष जान कर सम्यक्दृष्टिसंपन्न सत्त्व (प्राणी) सुगति को प्राप्त होते हैं।

निरयवग्गो द्वावीसतिमो निद्वितो।

## २३. नागवग्गो

३२०. अहं नागोव सङ्गामे, चापतो पतितं सरं।  
अतिवाक्यं तित्तिक्खिस्सं, दुस्सीलो हि बहुज्जनो ॥

जैसे (कि सी) संग्राम में हाथी धनुष से छोड़े गये बाण को (सहन करता है) (वैसे ही) मैं (दूसरों के) कटुवचन को सहन करूंगा, क्योंकि (संसार में) दुःशील (व्यक्ति ही) अधिक हैं।

३२१. दन्तं नयन्ति समितिं, दन्तं राजाभिरूहति।  
दन्तो सेट्ठो मनुस्सेसु, योतिवाक्यं तित्तिक्खति ॥

दान्त (शिक्षित) हाथी को परिषद में ले जाते हैं। दान्त पर (ही) राजा चढ़ता है। मनुष्यों में भी दान्त (व्यक्ति ही) श्रेष्ठ होता है जो कि कटुवचन को सह लेता है।

३२२. वरमस्सतरा दन्ता, आजानीया च सिन्धवा।  
कुज्जरा च महानागा, अत्तदन्तो ततो वरं ॥

खच्चर, अच्छी नसल के सैंधव घोड़े और महानाग हाथी दान्त (शिक्षित) होने पर उत्तम होते हैं, (परंतु) अपने आप को दान्त कि या हुआ (पुरुष) उनसे श्रेष्ठ होता है।

३२३. न हि एतेहि यानेहि, गच्छेय्य अगतं दिसं।  
यथात्तना सुदन्तेन, दन्तो दन्तेन गच्छति ॥

इन (हाथी, घोड़े आदि) सवारियों से बिना गयी दिशा (निर्वाण) तक नहीं जाया जा सकता, जैसे कि अपने आप को सुदान्त बना कर, (कोई) दान्त (व्यक्ति) दान्त (इंद्रियों) के साथ (वहां तक) चला जाता है।

३२४. धनपालो नाम कुज्जरो, कटुक भेदनो दुन्निवारयो।  
बद्धो क बळंन भुज्जति, सुमरति नागवनस्स कुज्जरो ॥

दुर्निवार, धनपाल नाम का हाथी जिसकी कनपट्टी से मद चूर रहा है, बँध जाने पर कवल (कौर) नहीं खाता, (बल्लिक) नागवन (हाथियों के जंगल) का स्मरण करता है।

३२५. मिद्धी यदा होति महग्घसो च, निद्दायिता सम्परिवत्तसायी ।  
महावराहोव निवापपुट्ठो, पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो ॥

जो (पुरुष) आलसी, पेटू, निद्रालु, करवट बदल-बदल कर सोने वाला, और दाना खाकर पुष्ट हुए मोटे सूअर के समान होता है, वह मंदबुद्धि बार-बार गर्भ में पड़ता है।

३२६. इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं, येनिच्छकं यत्थकामं यथासुखं ।  
तदज्जहं निग्गहेस्सामि योनिसो, हत्थिप्पभिन्नं विय अङ्कुसग्गहो ॥

यह जो जहां इच्छा हो, जहां कामना हो, जहां सुख दिखे, वहां चलायमान हो जाने वाला चित्त है, पहले इसे अचंचल बनाऊंगा। इसे ऐसे ही भलीभांति वश में करूंगा जैसे कि अंकुशधारी महावत बिगड़ैल हाथी को वश में करता है।

३२७. अप्पमादरता होथ, सचित्तमनुरक्खथ ।  
दुग्गा उद्धरथत्तानं, पङ्के सन्नोव कुज्जरो ॥

अप्रमाद में जुटो। (अपने) चित्त की रक्षा करो। कीचड़ में धँसे हाथी के समान अपने आपको कठिन मार्ग से बाहर निकालो (और निर्वाण के धरातल पर प्रतिष्ठापित करो)।

३२८. सचे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं ।  
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि, चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा ॥

यदि (किसी को) साथ चलने के लिए (कोई) साधुविहारी, धैर्यसंपन्न, बुद्धिमान साथी मिल जाय, तो (वह) सारी परेशानियों को ताक पर रख कर प्रसन्नवदन और स्मृतिमान होकर उसके संग विचरण करे।

३२९. नो चे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं ।  
राजाव रद्धं विजितं पहाय, एको चरे मातङ्गरज्जेव नागो ॥

यदि (किसी को) साथ चलने के लिए (कोई) साधुविहारी, धैर्यसंपन्न, बुद्धिमान साथी न मिले, तो (वह) पराजित राष्ट्र को छोड़ कर जाते हुए राजा के समान अथवा हस्तिवन में हाथी के समान अकेला विचरण करे।

३३०. एकस्स चरितं सेय्यो, नत्थि वाले सहायता ।  
एकोचरे न च पापानि क यिरा, अप्पोस्सुक्कोमातङ्गरज्जेव नागो ॥

अकेला विचरना उत्तम है, (किंतु) मूढ की मित्रता अच्छी नहीं। हस्तिवन में हाथी के समान अनासक्त होकर अकेला विचरण करे और पाप न करे।

**३३१. अथमि जातमि सुखा सहाया, तुट्टी सुखा या इतरीतरेन।**

**पुञ्जं सुखं जीवितसङ्घमि, सब्बस्स दुक्खस्स सुखं पहानं ॥**

कामपड़ने पर मित्रों का होना सुखकर है। जिस किसी (छोटी या बड़ी) चीज से संतुष्ट हो जाना (यह भी) सुखकारक है। जीवन के क्षय होने पर (कि या हुआ) पुण्य सुखदायक होता है। सारे दुःखों का प्रहाण (अरहंत हो जाना) (सर्वाधिक) सुखकर है।

**३३२. सुखा मत्तेय्यता लोके, अथो पेत्तेय्यता सुखा।**

**सुखा सामञ्जता लोके, अथो ब्रह्मञ्जता सुखा ॥**

लोक में माता की सेवा करना सुखकर है, (और) ऐसे ही पिता की सेवा (भी) सुखकर है। लोक में श्रमण की सेवा (आदर) करना सुखकर है, और (ऐसे ही) ब्राह्मण की सेवा (आदर) करना भी सुखकर है।

**३३३. सुखं याव जरा सीलं, सुखा सद्धा पतिट्ठिता।**

**सुखो पञ्जाय पटिलाभो, पापानं अकरणं सुखं ॥**

बुढ़ापे तक शील का पालन करना सुखकर (होता) है, अचल श्रद्धा सुखकर (होती) है, प्रज्ञा का लाभ सुखकर (होता) है (और) पाप (कर्मों) का न करना सुखकर (होता) है।

नागवग्गो तेवीसत्तिमो निट्ठितो।

## २४. तण्हावग्गो

३३४. मनुजस्स पमत्तचारिनो, तण्हा वड्ढति मालुवा विय।  
सो प्लवती हुरा हुरं, फलमिच्छं वनस्मि वानरो ॥

प्रमत्त होकर आचरण करने वाले मनुष्य की तृष्णा मालुवा लता की भांति बढ़ती है, वन में फलकी इच्छा से एक शाखा छोड़ दूसरी शाखा पकड़ते बंदर की तरह वह एक भव से दूसरे भव में भटकता रहता है।

३३५. यं एसा सहते जम्मी, तण्हा लोके विसत्तिक।।  
सोका तस्स पवड्ढन्ति, अभिवड्ढं वीरणं ॥

लोक में यह विषमयी तृष्णा जिस कि सी को अभिभूत कर लेती है, उसके (दुःख-) शोक वैसे ही बढ़ने लगते हैं जैसे कि वर्षा ऋतु में 'वीरण' नाम का जंगली घास (बढ़ता रहता है)।

३३६. यो चेतं सहते जम्मिं, तण्हं लोके दुरच्चयं।  
सोका तम्हा पपत्तन्ति, उदबिन्दुव पोक्खरा ॥

इस (बार-बार) जन्मने वाली दुरतिक्रमणीय तृष्णा को जो लोक में अभिभूत कर देता है, उसके शोक (वैसे ही) झड़ जाते हैं जैसे पद्म (-पत्र) से पानी की बूंद।

३३७. तं वो वदामि भदं वो, यावन्तेत्थ समागता।  
तण्हाय मूलं खणथ, उसीरत्थोव वीरणं।  
मा वो नळं व सोतोव, मारो भञ्जि पुनप्पुनं ॥

इसलिए मैं तुम्हें, जितने यहां आये हो, कहता हूं, तुम्हारे कल्याण के लिए कहता हूं - जैसे खस के लिए (बड़ी कुदाल लेकर) वीरण को खोदते हैं, ऐसे ही तृष्णा को जड़ से उखाड़ डालो। (कहीं ऐसा न हो कि) तुम्हें (देवपुत्र) मार (वैसे ही) बार-बार उखाड़ता रहे जैसे नदी के स्रोत में उगे हुए सरकंडे को (बड़े वेग से आता हुआ) नदी का प्रवाह।

३३८. यथापि मूले अनुपद्वे दळ्हे, छिन्नोपि रुक्खो पुनरेव रुहति।  
एवम्पि तण्हानुसये अनूहते, निब्बत्तती दुक्खमिदं पुनप्पुनं ॥

जैसे जड़ के बिल्कुल नष्ट न होने और (उसके) दृढ़ बने रहने पर कटा हुआ



वृक्ष फिर उग जाता है, वैसे ही तृष्णा-रूपी अनुशय के (जड़ से) उच्छिन्न न होने पर यह दुःख बार-बार उत्पन्न होता है।

**३३९. यस्स छत्तिसति सोता, मनापसवना भुसा।**

**बाहा वहन्ति दुद्धिं, सङ्कप्पा रागनिस्सिता ॥**

जिसके छत्तीस स्रोत मन को प्रिय लगने वाली (वस्तुओं) की ही ओर जाते हैं, उस मिथ्या दृष्टि वाले व्यक्ति को उसके राग निश्चित संकल्पबहा ले जाते हैं।

**३४०. सवन्ति सब्बधि सोता, लता उप्पज्ज तिड्ढति।**

**तञ्च दिस्वा लतं जातं, मूलं पञ्जाय छिन्दथ ॥**

(ये) स्रोत सभी ओर बहते हैं (जिसके कारण) (तृष्णारूपी) लता अंकुरित रहती है। उस उत्पन्न हुई लता को देख कर प्रज्ञा से उसकी जड़ को काट डाली।

**३४१. सरितानि सिनेहितानि च, सोमनस्सानि भवन्ति जन्तुनो।**

**ते सातसिता सुखेसिनो, ते वे जातिजरूपगा नरा ॥**

(ये) (तृष्णारूपी) नदियां प्राणियों के चित्त को प्रसन्न करने वाली होती हैं। इस सुख में आसक्त सुख की चाहना करने वाले जन्म, बुढ़ापा, (रोग तथा मृत्यु) के फेर में जा पड़ते हैं।

**३४२. तसिणाय पुरक्खता पजा, परिसप्पन्ति ससोव बन्धितो।**

**संयोजनसङ्गसत्तका, दुक्खमुपेन्ति पुनप्पुनं चिराय ॥**

तृष्णा से परिवारित प्राणी (जंगल में किसी व्याध द्वारा) बँधे हुए खरहे के समान चक्कर काटते रहते हैं। (मन के) बंधनों में फँसे हुए (लोग) लंबे समय तक बार-बार (जन्मादि का) दुःख पाते हैं।

**३४३. तसिणाय पुरक्खता पजा, परिसप्पन्ति ससोव बन्धितो।**

**तस्मा तसिणं विनोदये, आकङ्खन्त विरागमत्तनो ॥**

तृष्णा से परिवारित प्राणी (जंगल में किसी व्याध द्वारा) बँधे हुए खरहे के समान चक्कर काटते रहते हैं। इसलिए अपने वैराग्य की आकांक्षा करते हुए (साधक) तृष्णा को दूर करें।

**३४४. यो निब्बनथो वनाधिमुत्तो, वनमुत्तो वनमेव धावति।**

**तं पुगलमेथ पस्सथ, मुत्तो बन्धनमेव धावति ॥**

जो तृष्णा से छूट कर, तृष्णामुक्त हो, तृष्णा की ओर ही दौड़ता है, उस

(व्यक्ति) को वैसे ही जानो जैसे (कोई बंधन से मुक्त हुआ) पुरुष फिर बंधन की ओर ही भागने लगे।

**३४५. न तं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा, यदायसं दारुजपव्वजञ्च ।  
सारत्तरत्ता मणिकुण्डलेसु, पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा ॥**

(यह) जो लोहे, लकड़ी, या रस्सी का बंधन है, उसे पंडित (जन) दृढ़ बंधन नहीं कहते। (वस्तुतः दृढ़ बंधन होता है) मणियों, कुंडलों, पुत्रों तथा स्त्री में तृष्णा का होना।

**३४६. एतं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा, ओहारिनं सिथिलं दुप्पमुञ्चं ।  
एतम्मि छेत्वान परिव्वजन्ति, अनपेक्खिनो कामसुखंपहाय ॥**

पंडित (जन) इसी को दृढ़, पतनोन्मुख, शिथिल और दुस्त्याज्य बंधन कहते हैं। वे अपेक्षारहित हो, कामसुख को छोड़ कर, इस (दृढ़ बंधन) को भी (ज्ञान-रूपी खड्ग से) काट कर प्रव्रजित हो जाते हैं।

**३४७. ये रागरत्तानुपतन्ति सोतं, सयंकतं मक्कटकोव जालं ।  
एतम्मि छेत्वान वजन्ति धीरा, अनपेक्खिनो सब्बदुक्खं पहाय ॥**

जैसे मकड़ा स्वयं बनाये हुए जाल में (फँस जाता है), वैसे ही राग-रंजित (लोग) स्वयं बनाये (तृष्णारूपी) स्रोत में गिर जाते हैं। पंडित (जन) सारे दुःखों का प्रहाण कर इस स्रोत को भी काट कर अपेक्षारहित हो चल देते हैं।

**३४८. मुञ्च पुरे मुञ्च पच्छतो, मज्झे मुञ्च भवस्स पारगू ।  
सब्वत्थ विमुत्तमानसो, न पुनं जातिजरं उपेहिसि ॥**

आगे (भूत), पीछे (भविष्य) और मध्य (वर्तमान) की (सारी बातों को) छोड़ दो अर्थात् सभी स्कंधों को त्याग दो (और उन्हें छोड़ कर) भव (-सागर) के पार हो जाओ। सब ओर से विमुक्तचित्त होकर (तुम) फिर जन्म, बुढ़ापा (और मृत्यु) को नहीं प्राप्त होगे।

**३४९. वितक्क मथितस्सन्तुनो, तिब्बरागस्ससुभानुपस्सिनो ।  
भिय्यो तण्हा पवड्ढति, एस खो दळ्हं क रोति बन्धनं ॥**

(कामवितक [दिसे] ग्रस्त, तीव्र राग युक्त और शुभ ही शुभ (सुंदर ही सुंदर) देखने वाले प्राणी की तृष्णा और भी प्रवृद्ध होती (खूब बढ़ती) है। (इससे) वह (अपने लिए) और भी दृढ़ बंधन तैयार करता है।

३५०. वितक्कू पसमेच यो रतो, असुभं भावयते सदा सतो ।  
एस खो ब्यन्ति क ाहिति, एस छेच्छति मारबन्धनं ॥

जो वितर्कों को शांत करने में लगा है (और) सदा स्मृतिमान रह अशुभ की भावना करता है, वह मार के बंधन को काट देगा, वह निश्चय ही इस (तृष्णा) का विनाश कर देगा ।

३५१. निडुङ्गतो असन्तासी, वीततण्हो अनङ्गणो ।  
अच्छिन्दि भवसल्लानि, अन्तिमोयं समुस्सयो ॥

जिसने लक्ष्य (अर्हत्व) पा लिया हो, जो निर्भय, तृष्णारहित और मलविहीन हो गया हो, जिसने भव (प्राप्त करने वाले) शल्यों को काट दिया हो, उसका यह अंतिम जीवन (होता) है ।

३५२. वीततण्हो अनादानो, निरुत्तिपदकोविदो ।  
अक्खरानं सन्निपातं, जज्जा पुब्बापरानि च ।  
स वे “अन्तिमसारीरो, महापज्जो महापुरिसो”ति वुच्चति ॥

जो तृष्णारहित अपरिग्रही, निरुक्ति और पद (चार प्रतिसंभिदाओं) में निपुण हो, और अक्षरों को पहले पीछे (के क्रम से) रखना जानता हो, वही अंतिम देहधारी, महाप्राज्ञ और महापुरुष कहा जाता है ।

३५३. सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि, सब्बेसु धम्मेषु अनूपलित्तो ।  
सब्बज्जहो तण्हक्खये विमुत्तो, सयं अभिज्जाय क मुद्दिसेय्यं ॥

(मैं) सबको अभिभूत (परास्त) करने वाला, सर्वज्ञ, सारे धर्मों से अलित, सर्वत्यागी हूँ, तृष्णा का क्षय हो जाने से विमुक्त हूँ । (परम ज्ञान को) स्वयं की अभिज्ञा से जान कर (मैं) किसको (अपना उपाध्याय या आचार्य) बतलाऊँ ?

३५४. सब्बदानं धम्मदानं जिनाति, सब्बरसं धम्मरसो जिनाति ।  
सब्बरतिं धम्मरति जिनाति, तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति ॥

धर्म का दान सब दानों को जीत लेता है (सब दानों में श्रेष्ठ है) । धर्म का रस सब रसों को जीत लेता है (सब रसों में श्रेष्ठ है) । धर्म में रमण करना सभी रमण-सुखों को जीत लेता है (सब रतियों में श्रेष्ठ है) । तृष्णा का क्षय सब दुःखों को जीत लेता है (अर्थात्, सबसे श्रेष्ठ है) ।

३५५. हनन्ति भोगा दुम्मधं, नो च पारगवेसिनो ।  
भोगतण्हाय दुम्मधो, हन्ति अज्जेव अत्तनं ॥

(संसार को) पार करने का प्रयत्न न करने वाले दुर्बुद्धि को भोग नष्ट कर देते हैं। भोगों की तृष्णा में पड़ कर (वह) दुर्बुद्धि पराये के समान अपना ही हनन कर लेता है।

**३५६. तिणदोसानि खेत्तानि, रागदोसा अयं पजा।  
तस्मा हि वीतरागेषु, दित्रं होति महप्फलं॥**

खेतों का दोष है (इनमें उगने वाले भांति-भांति के) तृण (क्योंकि ऐसे खेत बहुत नहीं उपजते)। इस प्रजा का दोष है (इसके अंदर जागने वाला) राग। (ऐसे लोगों को दान देने से कोई बड़ा फल प्राप्त नहीं होता)। इसलिए वीतराग (व्यक्तियों) को (ही दान देना चाहिए) जिससे महान फल प्राप्त होता है।

**३५७. तिणदोसानि खेत्तानि, दोसदोसा अयं पजा।  
तस्मा हि वीतदोसेसु, दित्रं होति महप्फलं॥**

खेतों का दोष तृण है। इस प्रजा का दोष है द्वेष। इसलिए वीतद्वेष (व्यक्तियों) को दान देने से महान फल प्राप्त होता है।

**३५८. तिणदोसानि खेत्तानि, मोहदोसा अयं पजा।  
तस्मा हि वीतमोहेसु, दित्रं होति महप्फलं॥**

खेतों का दोष तृण है। इस प्रजा का दोष है मोह। इसलिए वीतमोह (व्यक्तियों) को दान देने से महान फल प्राप्त होता है।

**३५९. तिणदोसानि खेत्तानि, इच्छादोसा अयं पजा।  
तस्मा हि विगतिच्छेषु, दित्रं होति महप्फलं॥  
तिणदोसानि खेत्तानि, तण्हादोसा अयं पजा।  
तस्मा हि वीततण्हेसु, दित्रं होति महप्फलं॥**

खेतों का दोष तृण है। इस प्रजा का दोष है इच्छा। इसलिए इच्छारहित (व्यक्तियों) को दान देने से महान फल प्राप्त होता है। खेतों का दोष तृण है। इस प्रजा का दोष है तृष्णा। इसलिए तृष्णारहित (व्यक्तियों) को दान देने से महान फल प्राप्त होता है।

तण्हावग्गो चतुवीसत्तिमो निद्धितो।

## २५. भिक्खुवग्गो

३६०. चक्खुना संवरो साधु, साधु सोतेन संवरो।  
घानेन संवरो साधु, साधु जिह्वाय संवरो ॥

चक्षु का संवर (संयम) अच्छा है, अच्छा है श्रोत्र का संवर। घ्राण का संवर अच्छा है, अच्छा है जिह्वा का संवर।

३६१. कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो।  
मनसा संवरो साधु, साधु सब्बत्थ संवरो।  
सब्बत्थ संवुतो भिक्खु, सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥

काय (शरीर) का संवर अच्छा है, अच्छा है वाणी का संवर। मन का संवर अच्छा है, अच्छा है सर्वत्र (इंद्रियों का) संवर। सर्वत्र संवर-प्राप्त भिक्षु (साधक) सारे दुःखों से मुक्त हो जाता है।

३६२. हत्थसंयतो पादसंयतो, वाचासंयतो संयतुत्तमो।  
अज्झत्तरतो समाहितो, एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं ॥

जो हाथ, पैर और वाणी में संयत है, (जो) उत्तम संयमी है, अपने भीतर की (सच्चाइयों को) जानने में लगा है, समाधियुक्त, एकाकी और संतुष्ट है, उसे 'भिक्षु' कहते हैं।

३६३. यो मुखसंयतो भिक्खु, मन्तभाणी अनुद्धतो।  
अत्थं धम्मञ्च दीपेति, मधुरं तस्स भासितं ॥

जो भिक्षु मुख से संयत है, सोच-विचार कर बोलता है, उद्धत नहीं है, अर्थ और धर्म को प्रकाशित करता है, उसका बोल मीठा होता है।

३६४. धम्मरामो धम्मरतो, धम्मं अनुविचिन्तयं।  
धम्मं अनुस्सरं भिक्खु, सद्धम्मा न परिहायति ॥

धर्म में रमण करने वाला, धर्म में रत, धर्म का चिंतन करते, धर्म का पालन करते भिक्षु (साधक) सद्धर्म से च्युत नहीं होता।

३६५. सलाभं नातिमज्जेय्य, नाज्जेसं पिहयं चरे।  
अज्जेसं पिहयं भिक्खु, समाधिं नाधिगच्छति ॥

अपने लाभ की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, दूसरों के (लाभ की) स्पृहा नहीं

करनी चाहिए। दूसरों के (लाभ की) स्पृहा करने वाला भिक्षु (साधक) चित्त की एकाग्रता को नहीं प्राप्त कर पाता।

**३६६. अप्पलाभोपि चे भिक्खु, सलाभं नातिमञ्जति।  
तं वे देवा पसंसन्ति, सुद्धाजीविं अतन्दितं ॥**

थोड़ा-सा लाभ मिलने पर भी यदि भिक्षु (साधक) अपने लाभ की अवहेलना नहीं करता है, तो उस शुद्ध जीविकावाले, निरालस की देवता प्रशंसा करते हैं।

**३६७. सब्बसो नामरूपसिं, यस्स नत्थि ममायितं।  
असता च न सोचति, स वे “भिक्खू”ति वुच्चति ॥**

नामरूप के प्रति जिसका बिल्कुल ही ‘मैं’ ‘मेरे’ का भाव नहीं, जो (उनके) नहीं होने पर शोक नहीं करता, वही ‘भिक्षु’ कहा जाता है।

**३६८. मेत्ताविहारी यो भिक्खु, पसन्नो बुद्धसासने।  
अधिगच्छे पदं सन्तं, सङ्घारूपसमं सुखं ॥**

मैत्री (भावना) से विहार करता हुआ जो भिक्षु (साधक) बुद्ध के शासन में प्रसन्न रहता है, (वह) (सभी) संस्कारों का शमन करनेवाले शांत (और) सुखमय पद (निर्वाण) को प्राप्त करता है।

**३६९. सिञ्च भिक्खु इमं नावं, सिन्ता ते लहुमेस्सति।  
छेत्वा रागञ्च दोसञ्च, ततो निब्बानमेहिसि ॥**

हे भिक्षु (साधक)! इस (आत्मभाव नाम की) नाव को उलीचो, उलीचने पर यह तुम्हारे लिए हल्की हो जायगी। राग और द्वेष (रूपी बंधनों) का छेदन कर, फिर तुम निर्वाण को प्राप्त कर लोगे।

**३७०. पञ्च छिन्दे पञ्च जहे, पञ्च चुत्तरि भावये।  
पञ्चसङ्गातिगोभिक्खु, “ओघतिण्णो”तिवुच्चति ॥**

(सत्काम-दृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रतपरामर्श, कामराग और व्यापाद - इन) पांच (अवरभागीय संयोजनों) का छेदन करे, (रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या - इन) पांच (ऊर्ध्वभागीय संयोजनों) को छोड़ दे, और तदुपरान्त (इनके प्रहाण के लिए श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा - इन) पांच (इंद्रियों) की भावना करे। जो भिक्षु (साधक) पांच आसक्तियों (राग, द्वेष, मोह, मान और दृष्टि) का अतिक्रमण कर चुका हो, वह (काम, भव, दृष्टि तथा

अविद्या रूपी चार प्रकारकी) बाढ़ों को पार किया हुआ 'ओघतीर्ण' कहा जाता है।

**३७१. ज्ञाय भिक्षु मा पमादो, मा ते कामगुणे रमेस्सु चित्तं।  
मालोहगुळंगिलीपमतो, माक न्दि "दुक्खमिद"न्ति ड्हमानो ॥**

हे भिक्षु (साधक)! ध्यान करो, प्रमाद में मत पड़ो। तुम्हारा चित्त (पांच प्रकार के) कामगुणों (भोगों) के चक्कर में मत पड़े। प्रमत्त होकर मत लोहे के गोले को निगलो। 'हाय! यह दुःख' कहकर जलते हुए तुम्हें (कहीं) क्रंदन करना पड़े।

**३७२. नत्थि ज्ञानं अपञ्जस्स, पज्जा नत्थि अज्ञायतो।  
यम्हि ज्ञानञ्च पज्जा च, स वे निब्बानसन्तिके ॥**

प्रज्ञाविहीन (पुरुष) का ध्यान नहीं होता, ध्यान करने वाले को प्रज्ञा नहीं होती। जिसके पास ध्यान और प्रज्ञा (दोनों) हैं, वही निर्वाण के समीप (स्थित) होता है।

**३७३. सुञ्जागारं पविट्ठस्स, सन्तचित्तस्स भिक्षुनो।  
अमानुसी रति होति, सम्मा धम्मं विपस्सतो ॥**

किंसी शून्यागार में प्रवेश करके कोई शांत-चित्त साधक जब सम्यक रूप से धर्मानुपशयना करता है, तब उसे लोकोत्तर सुख प्राप्त होता है (जो कि सामान्य मानवीय लोकीय सुखों से परे होता है)।

**३७४. यतो यतो सम्मसति, खन्धानं उदयब्बयं।  
लभती पीतिपामोज्जं, अमतं तं विजानतं ॥**

साधक (सम्यक सावधानता के साथ) जब-जब (शरीर और चित्त) स्कंधों के उदय-व्यय रूपी अनित्यता की विपश्यना द्वारा अनुभूति करता है, तब-तब उसे प्रीति-प्रमोद (रूपी अध्यात्म-सुख) की उपलब्धि होती है। ज्ञानियों के लिए यह अमृत है।

**३७५. तत्रायमादि भवति, इध पञ्जस्स भिक्षुनो।  
इन्द्रियगुत्ति सन्तुट्ठि, पातिमोक्खे च संवरो ॥**

यहां (इस धर्म में) प्रज्ञावान भिक्षु (साधक) को आरंभ में करना होता है- इंद्रियों का संवर, संतोष और प्राप्तिमोक्ष (भिक्षु-विनय के नियमों) में संवर।

३७६. मित्ते भजस्सु कल्याणे, सुद्धाजीवे अतन्दिते ।  
पटिसन्धारवुत्त्यस्स, आचारकु सलो सिया ।  
ततो पामोज्जबहुलो, दुक्खस्सन्तं करिस्सति ॥

(वह इसके लिए) शुद्ध जीविका वाले, निरालस, कल्याणकारीमित्रों का साथ करे। वह मैत्रीपूर्ण स्वागत करने वाला हो, आचार-पालन में कुशल हो। उससे वह प्रमोद की बहुलता के साथ दुःख का अंत कर लेगा।

३७७. वस्सिका विय पुप्फानि, मद्दवानि पमुञ्चति ।  
एवं रागञ्च दोसञ्च, विप्पमुञ्चेथ भिक्खवो ॥

(जैसे) जूही (अपने) कुम्ललाये हुए फूलों को छोड़ देती है, वैसे ही हे भिक्षुओ (साधको)! (तुम) राग और द्वेष को छोड़ दो।

३७८. सन्तकियो सन्तवाचो, सन्तवा सुसमाहितो ।  
वन्तलोकामिसोभिक्खु, “उपसन्तो”ति बुच्चति ॥

शरीर (और) वाणी से शांत, शांतिप्राप्त, सुसमाहित, लोक के आमिष (लौकिक कभोगों) को वमन कि ये हुए भिक्षु (साधक) को ‘उपशांत’ कहा जाता है।

३७९. अत्तना चोदयत्तानं, पटिमंसेथ अत्तना ।  
सो अत्तगुत्तो सतिमा, सुखं भिक्खु विहाहिसि ॥

जो अपने आपको स्वयं प्रेरित करे, अपना परीक्षण स्वयं करे, वह अपने द्वारा रक्षित, स्मृतिमान भिक्षु (साधक) सुखपूर्वक विहार करेगा।

३८०. अत्ता हि अत्तनो नाथो, कोहि नाथो परो सिया ।  
अत्ता हि अत्तनो गति ।  
तस्मा संयममत्तानं, अस्सं भद्रं वाणिजो ॥

व्यक्ति स्वयं ही अपना स्वामी है, स्वयं ही अपनी गति (शरण) है। इसलिए अपने आपको संयत करे, वैसे ही जैसे कि अच्छे घोड़ों का व्यापारी अपने घोड़ों को (करता है)।

३८१. पामोज्जबहुलो भिक्खु, पसन्नो बुद्धसासने ।  
अधिगच्छे पदं सन्तं, सङ्घारूपसमं सुखं ॥

बुद्ध के शासन में प्रसन्न (रहने वाला) प्रमोदबहुल भिक्षु (साधक) (सभी)



संस्कारोंके उपशमन से (प्राप्त होने वाले) सुखमय शांत पद (निर्वाण) को प्राप्त करे।

**३८२. यो हवे दहरो भिक्खु, युञ्जति बुद्धसासने।**

**सोमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तोव चन्दिमा ॥**

जो कोईतरुण साधक भी बुद्ध के शासन में लग जाता है, वह (अर्हत्व-प्राप्ति के मार्ग के ज्ञान से) मेघमुक्त चंद्रमा के समान इस (खंधादिभेद) लोक को प्रकाशित करता है।

भिक्खुवग्गो पञ्चवीसतिमो निट्ठितो।

## २६. ब्राह्मणवग्गो

३८३. छिन्द सोतं परक्कम्म, कामे पनुद ब्राह्मण।  
सङ्घारानं खयं जत्वा, अक तज्जूसि ब्राह्मण ॥

हे ब्राह्मण! (तृष्णारूपी) स्रोत को काट दे, पराक्रम कर कामनाओं को दूर कर। संस्कारों के क्षय को जान कर, हे ब्राह्मण! (तू) अकृत (निर्वाण) का जानने वाला हो जा।

३८४. यदा द्वयेसु धम्मेषु, पारगू होति ब्राह्मणो।  
अथस्स सब्बे संयोगा, अत्थं गच्छन्ति जानतो ॥

जब (कोई) ब्राह्मण दो धर्मों (शमथ और विपश्यना) में पारंगत हो जाता है, तब उस जानकार के सभी बंधन नष्ट हो जाते हैं।

३८५. यस्स पारं अपारं वा, पारापारं न विज्जति।  
वीतहरं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

जिसके पार (भीतर के छह आयतन - आंख, कान, नाक, जीभ, काय और मन), अपार (बाहर के छह आयतन - रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और धर्म) या पार-अपार (ये दोनों ही, अर्थात् 'मैं' 'मेरे' का भाव) नहीं हैं, जो निर्भय और अनासक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

३८६. ज्ञायिं विरजमासीनं, क तकि च्चमनासवं।  
उत्तमत्थमनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

(जो) ध्यानी, विमल, आसनबद्ध (स्थिर), कृतकृत्य, और आश्रवरहित हो, जिसने उत्तम अर्थ (निर्वाण) को प्राप्त कर लिया हो, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

३८७. दिवा तपति आदिच्चो, रत्तिमाभाति चन्दिमा।  
सन्नद्धो खत्तियो तपति, ज्ञायी तपति ब्राह्मणो।  
अथ सब्बमहोरत्तिं, बुद्धो तपति तेजसा ॥

दिन में सूर्य तपता है, रात में चंद्रमा भासता है, कवच पहन क्षत्रिय चमकता है, ध्यान करता हुआ ब्राह्मण चमकता है, और सारे रात-दिन बुद्ध (अपने) तेज से चमकते हैं।

**३८८. बाहितपापोति ब्राह्मणो, समचरिया समणोति बुच्चति ।  
पब्बाजयमत्तनो मलं, तस्मा “पब्बजितो”ति बुच्चति ॥**

ब्राह्मण वह (क हलाता) है जिसने पापों को बहा दिया, श्रमण वह है जिसकी चर्या समतापूर्ण है, और प्रव्रजित वह क हलाता है जिसने अपने चित्त के मैल दूर कर लिये।

**३८९. न ब्राह्मणस्स पहरेय्य, नास्स मुञ्चेथ ब्राह्मणो ।  
धी ब्राह्मणस्स हन्तारं, ततो धी यस्स मुञ्चति ॥**

ब्राह्मण (निष्पाप) पर प्रहार नहीं करना चाहिए, (और) ब्राह्मण को भी उस (प्रहार करने वाले) पर कोप नहीं करना चाहिए। धिक्कार है ब्राह्मण की हत्या करने वाले पर, और उससे भी अधिक धिक्कार है उस पर जो (इसके लिए) कोप करता है।

**३९०. न ब्राह्मणस्सेतदकिञ्चिसेय्यो, यदा निसेधो मनसो पियेहि ।  
यतो यतो हिंसमनो निवत्तति, ततो ततो सम्मत्तिमेव दुक्खं ॥**

ब्राह्मण के लिए यह कम श्रेयस्कर नहीं होता जब (वह) मन से प्रियों को निकाल देता है। जहां-जहां मन हिंसा से टलता है, वहां-वहां दुःख शांत होता ही है।

**३९१. यस्स कायेन वाचाय, मनसा नत्थि दुक्कटं ।  
संवुत्तं तीहि ठानेहि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥**

जो शरीर से, वाणी से और मन से दुष्कर्म नहीं करता, जो इन तीनों क्षेत्रों में संयमयुक्त है, उसे (ही) मैं ब्राह्मण कहता हूं।

**३९२. यम्हा धम्मं विजानेय्य, सम्मासम्बुद्धदेसितं ।  
सक्कच्चं तं नमस्सेय्य, अग्गिहुत्तं ब्राह्मणो ॥**

जिस (कि सी) से सम्यक संबुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म को जाने, उसे (वैसे ही) सत्कारपूर्वक नमस्कार करे जैसे अग्निहोत्र को ब्राह्मण (नमस्कार करता है)।

**३९३. न जटाहि न गोत्तेन, न जच्चा होति ब्राह्मणो ।  
यम्हि सच्चञ्च धम्मो च, सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥**

न जटा से, न गोत्र से, न जन्म से ही ब्राह्मण होता है। जिसमें सत्य (सोलह

प्रकारसे प्रतिवेधन कि येहुए चार आर्य-सत्य) और (नौ प्रकारके लोकोत्तर) धर्म हैं, वही शुचि (पवित्र) है और वही ब्राह्मण है।

**३९४. किं ते जटाहि दुग्धे, किं ते अजिनसाटिया।  
अब्भन्तरं ते गहनं, बाहिरं परिमज्जसि ॥**

अरे दुष्प्रज्ञ! जटाओं से तेरा क्या बनेगा? मृगचर्म धारण करने से तेरा क्या लाभ होगा? भीतर तो तेरा चित्त गहन मलीनता से भरा पड़ा है। बाहर-बाहर से तू इस शरीर को क्या रगड़ता-धोता है?

**३९५. पंसुकूलधरं जन्तुं, किसं धमनिसन्थतं।  
एकं वनस्मि ज्ञायन्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥**

जो फटेचीथड़ों को धारण करता है, जो कृश है, जिसके शरीर की सभी नसें दिखाई पड़ती है, और जो वन में एकाकीध्यान करने वाला है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

**३९६. न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि, योनिजं मत्तिसम्भवं।  
भोवादि नाम सो होति, सचे होति सकिञ्चनो।  
अकिञ्चनं अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥**

यदि वह परिग्रही (आसक्ति युक्त) है और भोवादी है तो (ब्राह्मणी) माता के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी उसे मैं ब्राह्मण नहीं कहता। जो अपरिग्रही है और अनासक्ति है उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

**३९७. सब्बसंयोजनं छेत्वा, यो वे न परितस्सति।  
सङ्गातिगं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥**

जो सारे संयोजनों (बंधनों) को काट कर भय नहीं खाता, जो तृष्णा एवं संयोजन के पार चला गया है, और जिसे संसार में आसक्ति नहीं है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

**३९८. छेत्वा नद्धिं वरत्तञ्च, सन्दानं सहनुक्कमं।  
उक्खित्तपलिघं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥**

जो नद्धा (क्रोध), वरत्रा (तृष्णा रूपी रस्सी), संदान (बासठ प्रकार की दृष्टियां रूपी पगहे), और हनुक्कम (मुंह पर बांधे जाने वाले जाल, अनुशय) को काट कर तथा पटिघ (अविद्या रूपी जूए) को (उतार) फेंक बुद्ध हुआ, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

३९९. अक्कोसं वधबन्धञ्च, अदुद्धो यो तितिव्रति ।  
खन्तीबलं बलानीकं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

जो (चित्त को) बिना दूषित कि ये गाली, वध (दण्ड) और बंधन (कारावास) को सह लेता है, सहन-शक्ति (क्षमा-बल) ही जिसकी सेना है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४००. अक्कोधनं वतवन्तं, सीलवन्तं अनुस्सदं ।  
दन्तं अन्तिमसारीरं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

जो अक्रोधी, (धुत-) व्रती, शीलवान, (तृष्णा के न रहने से) निरभिमानी है, (दंभी नहीं है), (छह इंद्रियों का दमन कर लेने से) दान्त (संयमी) और अंतिम शरीर धारी है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४०१. वारि पोक्खरपत्तेव, आरग्गेरिव सासपो ।  
यो न लिम्पति कामेसु, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

पद्म-पत्र पर जल और सूई के सिरे पर सरसों के दाने के समान जो कामभोगों में लिप्त नहीं होता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४०२. यो दुक्खस्स पजानाति, इधेव खयमत्तनो ।  
पन्नभारं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

जो यहीं (इसी लोक में) अपने (खंध-) दुःख के क्षय को प्रज्ञापूर्वक जान लेता है, जिसने अपना बोझ उतार फेंका है, (और) जो आसक्तिरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४०३. गम्भीरपज्जं मेधाविं, मग्गामग्गस्स कोविदं ।  
उत्तमत्थमनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

गहन प्रज्ञा वाले, मेधावी, मार्ग-अमार्ग के पंडित, उत्तम अर्थ (निर्वाण) को प्राप्त हुए (व्यक्ति) को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४०४. असंसदुं गहट्टेहि, अनागारेहि चूभयं ।  
अनोक सारिमप्पिच्छं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

जो गृहस्थों तथा गृह-त्यागियों दोनों में लिप्त नहीं होता, जो बिना (ठौर-) ठिकाने के घूमने वाला और अल्पेच्छ है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४०५. निधाय दण्डं भूतेसु, तसेसु थावरेसु च।  
यो न हन्ति न घातेति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

स्थावर व जंगम (चर व अचर) सभी प्राणियों के प्रति जिसने दंड त्याग दिया है (हिंसा त्याग दी है), जो न किसी की हत्या करता है, न हत्या करता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४०६. अविरुद्धं विरुद्धेसु, अत्तदण्डेसु निब्वुतं।  
सादानेसु अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

जो विरोधियों के बीच अविरोधी (बन कर) रहता है, दंडधारियों के बीच शांति से रहता है, परिग्रह करने वालों में अपरिग्रही (होकर) रहता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४०७. यस्स रागो च दोसो च, मानो मक्खो च पातितो।  
सासपोरिव आरग्गा, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

जिसके (चित्त से) राग, द्वेष, अभिमान और म्रक्ष (डाह) ऐसे ही गिर पड़े हैं जैसे सूई के सिरे से सरसों के दाने, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४०८. अकक्कसं विज्जापनिं, गिरं सच्चमुदीरये।  
याय नाभिसजे कच्चि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

जो (इस प्रकार की) अकर्म शस्त्रार्थक (विषय को स्पष्ट करने वाली), सच्ची वाणी को बोले जिससे किसी को पीड़ा न पहुंचे, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४०९. योध दीघं व रस्सं वा, अणुं थूलं सुभासुभं।  
लोके अदित्रं नादियति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

जो यहां इस लोक में लम्बी या छोटी, मोटी या महीन, सुंदर या असुंदर वस्तु बिना दिये नहीं लेता, अर्थात् उसकी चोरी नहीं करता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४१०. आसा यस्स न विज्जन्ति, अस्मिं लोके परमिहं च।  
निरासासं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

जिसके (मन में) इस लोक अथवा परलोक के संबंध में कोई आशा-आकांक्षा नहीं रह गयी है, जो सभी प्रकार की आशाओं-आकांक्षाओं (और आसक्तियों) से मुक्त हो चुका है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४११. यस्सालया न विज्जन्ति, अज्जाय अक थंक थी।  
अमतोगधमनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

जिसको आलय (तृष्णा) नहीं है, जो सब कुछ जान कर संदेहरहित हो गया है, जिसने अवगाहन करके (डुबकी लगा कर) निर्वाण प्राप्त कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४१२. योध पुज्जञ्च पापञ्च, उभो सङ्गमुपच्चगा।  
असोकं विरजं सुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

जो यहां (इस लोक में) पुण्य और पाप दोनों के प्रति आसक्ति से परे चला गया है, जो शोक रहित, विमल और शुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४१३. चन्दंव विमलं सुद्धं, विप्पसन्नमनाविलं।  
नन्दीभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

जो चंद्रमा के समान विमल, शुद्ध, निखरा हुआ और मलरहित है, और (जिसकी) भवतृष्णा पूरी तरह क्षीण हो गयी है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४१४. योमं पलिपथं दुग्गं, संसारं मोहमच्चगा।  
तिण्णो पारगतो ज्ञायी, अनेजो अक थंक थी।  
अनुपादाय निब्बुतो, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

जिसने इस दुर्गम संसार (जन्म-मरण) के चक्कर में डालने वाले मोह-रूपी उल्टे मार्ग को त्याग दिया है, जो तरा हुआ, पार गया हुआ, ध्यानी, (तृष्णाविरहित होने से) स्थिर, संदेहरहित और बिना किसी उपादान के निर्वाणलाभी हो गया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४१५. योध कामे पहन्त्वान, अनागारो परिब्बजे।  
कामभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

जो यहां (इस लोक में) कामभोगों का परित्याग कर, घर-बार छोड़ कर प्रव्रजित हो जाय, और जिसका कामभव पूरी तरह क्षीण हो गया हो, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४१६. योध तण्हं पहन्त्वान, अनागारो परिब्बजे।  
तण्हाभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

जो यहां (इस लोक में) तृष्णा का परित्याग कर, घर-बार छोड़ कर प्रव्रजित हो

जाय, और जिसकी (भवतृष्णा) पूरी तरह क्षीण हो गयी हो, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

**४१७. हित्वा मानुसकं योगं, दिव्यं योगं उपच्यगा ।  
सब्वयोगविसंयुतं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥**

जो मानुषिक बंधन और दैवी बंधन से परे चला गया है, जो सब प्रकार के बंधनों से विमुक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

**४१८. हित्वा रतिञ्च अरतिञ्च, सीतिभूतं निरुपधिं ।  
सब्वलोकभिभुं वीरं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥**

जो (पंचकामगुणरूपिणी) रति और (अरण्यवास की उत्कंठास्वरूप) अरति को छोड़ कर शांत और क्लेशरहित हो गया है, और जो सारे लोकों को जीत कर वीर (बना) है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

**४१९. चुतिं यो वेदि सत्तानं, उपपत्तिञ्च सब्वसो ।  
असत्तं सुगतं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥**

जो सत्त्वों (प्राणियों) की च्युति और उत्पत्ति को पूरी तरह से जानता है, और (जो) अनासक्त, अच्छी गति वाला और बोधिसंपन्न है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

**४२०. यस्स गतिं न जानन्ति, देवा गन्धब्वमानुसा ।  
खीणासवं अरहन्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥**

जिसकी गति देव, गंधर्व और मनुष्य नहीं जानते, और जो क्षीणाश्रव अरहंत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

**४२१. यस्स पुरे च पच्छा च, मज्झे च नत्थि किञ्चनं ।  
अकिञ्चनं अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥**

जिसके आगे, पीछे और बीच में कुछ नहीं है अर्थात् जो अतीत, अनागत और वर्तमान की सभी कामनाओं से मुक्त है, जो अकिंचन और अपरिग्रही है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

**४२२. उसभं पवरं वीरं, महेसिं विजिताविनं ।  
अनेजं न्हातकं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥**

जो श्रेष्ठ, प्रवर, वीर, महर्षि, विजेता, अकंप्य, स्नातक और बुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।



४२३. पुब्बेनिवासं यो वेदि, सग्गापायञ्च पस्सति,  
अथो जातिक्खयं पत्तो, अभिज्जावोसितो मुनि।  
सब्बवोसितवोसानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

जो (अपने) पूर्व-निवास को जानता है, और स्वर्ग तथा नरक को देख लेता है, और फिर जन्म के क्षय को प्राप्त हुआ अपनी अभिज्ञाओं को पूर्ण कि या हुआ मुनि है (और) जिसने जो कुछ करना था वह सब कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

ब्राह्मणवग्गो छब्बीसतिमो निट्ठितो।

एतावता सब्बपठमे यमक वग्गे चुद्दस वत्थूनि, अप्पमादवग्गे नव, चित्तवग्गे नव, पुप्फ वग्गे द्वादस, बालवग्गे पन्नरस, पण्डितवग्गे एकदस, अरहन्तवग्गे दस, सहस्सवग्गे चुद्दस, पापवग्गे द्वादस, दण्डवग्गे एकदस, जरावग्गे नव, अत्तवग्गे दस, लोक वग्गे एकदस, बुद्धवग्गे नव, सुखवग्गे अट्ठ, पियवग्गे नव, कोधवग्गे अट्ठ, मलवग्गे द्वादस, धम्मट्ठवग्गे दस, मग्गवग्गे द्वादस, पकिण्णक वग्गे नव, निरयवग्गे नव, नागवग्गे अट्ठ, तण्हावग्गे द्वादस, भिक्खुवग्गे द्वादस, ब्राह्मणवग्गे चत्तालीसाति पञ्चाधिकानि तीणि वत्थुसतानि।

सतेवीसचतुस्सता, चतुसच्चविभाविना ।  
सतत्तयञ्च वत्थूनं, पञ्चाधिकं समुट्ठिताति ॥

## धम्मपदे वग्गानमुद्दानं

यमकप्पमादो चित्तं, पुप्फं बालेन पण्डितो ।  
अरहन्तो सहस्सञ्च, पापं दण्डेन ते दस ॥

जरा अत्ता च लोको च, बुद्धो सुखं पियेन च ।  
कोधो मलञ्च धम्मट्ठो, मग्गवग्गेन वीसति ॥

पकि ण्णंनिरयो नागो, तण्हा भिक्खु च ब्राह्मणो ।  
एते छब्बीसति वग्गा, देसितादिच्चबन्धुना ॥

## गाथानमुद्दानं

यमके वीसति गाथा, अप्पमादम्हि द्वादस ।  
एकदस चित्तवग्गे, पुप्फवग्गम्हि सोळस ॥

बाले च सोळस गाथा, पण्डितम्हि चतुद्दस ।  
अरहन्ते दस गाथा, सहस्से होन्ति सोळस ॥

तेरस पापवग्गम्हि, दण्डम्हि दस सत्त च ।  
एकदस जरा वग्गे, अत्तवग्गम्हि ता दस ॥

द्वादस लोकवग्गम्हि, बुद्धवग्गम्हि ठारस ।  
सुखे च पियवग्गे च, गाथायो होन्ति द्वादस ॥

चुद्दस कोधवग्गम्हि, मलवग्गेक वीसति ।  
सत्तरस च धम्मट्ठे, मग्गवग्गे सत्तरस ॥

पकि ण्णे सोळस गाथा, निरये नागे च चुद्दस ।  
छब्बीस तण्हावग्गम्हि, तेवीस भिक्खुवग्गिक । ॥

एक तालीसगाथायो, ब्राह्मणे वग्गमुत्तमे ।  
गाथासतानि चत्तारि, तेवीस च पुनापरे ।  
धम्मपदे निपातम्हि, देसितादिच्चबन्धुनाति ॥

धम्मपद निद्धिता ।

## परिशिष्ट-१

‘धम्मपद’ की गाथाओं से मेल खाते विपश्यनाचार्य  
श्री सत्यनारायण गोयन्काजी  
द्वारा विरचित हिंदी/राजस्थानी दोहे

---

गाथा-००४ गाली दी मारा मुझे, हाथ लिया सब लूट।  
ज्युं ही यह चित्तन छुटे, बैर जायँ सब छूट ॥

गाथा-००५ बैर बैर से ना मिटे, बढ़े द्वेष दुष्कर्म।  
बैर मिटे मैत्री किये, यही सनातन धर्म ॥

गाथा-००८ क म खाणो, क म बोलणो, काया वाणी मौन।  
मार न विचलित कर सकै, ज्युं परबत नै पौन ॥

गाथा-०११ माने सार असार को, और सार निस्सार।  
क हां मिले उस मूढ़ को, शुद्ध धरम का सार ॥

गाथा-०१२ (१)  
समझ लिया है सार को, छोड़ दिया निस्सार।  
सम्यक द्रष्टा विज्ञान, वे ही पायें सार ॥

(२)  
जिसने समझा सार को, छोड़ दिया निस्सार।  
सम्यक द्रष्टा विज्ञान, हुए दुखों के पार ॥

गाथा-०१४ (१)  
ज्यों छाया छत में नहीं, वर्षा-जल घुस पाय।  
त्यों ही संयत चित्त में, राग द्वेष ना आय ॥

(२)

कुटिया छायी जतन से, अब बरसो मेघेश।  
छायी चित पर धरम छत, होय न राग प्रवेश ॥

गाथा-०१९ कि तने फल इस तरु लगे? जाने चौकीदार।  
केवल गिनती ही गिने, फल न चखे लाचार ॥

गाथा-०२५ प्रलयकारी बाढ़ में, तू ही तेरा द्वीप।  
अंधकारमय रात में, तू ही तेरा दीप ॥

गाथा-०४२ जितनी हानि न कर सकें, दुश्मन द्वेषी दोग।  
अधिक हानि निज मन करे, जब मन मैला होय ॥

गाथा-०४३ मां बापू प्रिय बंधुजन, भला करें सब कोय।  
अधिक भला निज मन करे, जब यह उजला होय ॥

गाथा-०५४ गंध गुलाब वहीं चले, चले पवन जिस ओर।  
शील गंध बिन पवन के, गमके चारों ओर ॥

गाथा-१०३ रण सहस्र योद्धा लड़े, जीते युद्ध हजार।  
पर जो जीते स्वयं को, वही शूर सरदार ॥

गाथा-११० सौ वर्षों की जिंदगी, बिना शील दी खोय।  
शीलवान का एक दिन, सदा श्रेष्ठतर होय ॥

गाथा-१११ सौ वर्षों की जिंदगी, बिन प्रज्ञा दी खोय।  
प्रज्ञानी का एक दिन, महा मांगलिक होय ॥

गाथा-१२७ सागर तल, पर्वत गुहा, अंतरिक्ष का छोर।  
पाप फलों से बच सकें, ऐसा दिखे न ठोर ॥

गाथा-१२८ जल में, थल में, गगन में, नहीं सुरक्षित कोय।  
ऐसा स्थान न जगत में, जहां मरण ना होय ॥

गाथा-१२९ मत हत्या कर, मार मत, सबको प्यारे प्राण ।  
अपनी सी ही वेदना, सब जीवों की जान ॥

गाथा-१३० मत पीड़ा, मत त्रास दे, मत हर इनके प्राण ।  
सुख-दुख सबके एक से, सारे जीव समान ॥

गाथा-१५३ जब जब जन्मा बिन रुके, रहा लगाता दौड़ ।  
क दम क दम बढ़ता रहा, मृत्यु द्वार की ओर ॥

गाथा-१६५ हम ही अपने कर्म से, होते शुद्ध अशुद्ध ।  
अन्य कौन शोधन करे, देव, ब्रह्म या बुद्ध ॥

गाथा-१६६ नहीं दोष है स्वार्थ में, सही स्वार्थ ले जान ।  
अपना करे अनर्थ ही, बिना स्वार्थ पहचान ॥

गाथा-१८३ जीवन भर करते रहें, कुशल कर्म भरपूर ।  
अकुशल से बचते रहें, रहें पाप से दूर ॥

गाथा-१९७ रहे बैरियों में मगर, चित बैरी ना होय ।  
सबका ही चाहे भला, सच्चा मंगल होय ॥

गाथा-२०४ (१)

परम लाभ 'आरोग्य' है, परम मित्र 'संतोष' ।  
परम बंधु 'विश्वास' है, 'मुक्ति' परम सुख कोष ॥

(२)

नहीं लाभ आरोग्य सम, धन संतुष्टि समान ।  
नहीं बंधु विश्वास सम, सुख सदृश निर्वाण ॥

गाथा-२१५ काम जगै तो भय जगै, जागै मन मैंह सोक ।  
काम तज्यां निरभय हुवै, सहजां हुवै निसोक ॥

गाथा-२१६ तृष्णा से दुख जागते, तृष्णा से भय होय ।  
तृष्णा त्यागे दुख मिटे, भय कहे से होय ॥

गाथा-२२३ जीत झूठ को सत्य से, क्रोध जीत अक्रोध ।  
जीत घृणा को प्यार से, मैल चित्त के शोध ॥

गाथा-२४० अपने मन का मैल ही, अपना नाश क राय ।  
ज्यूं लोहे का जंग ही, लोहे को खा जाय ॥

गाथा-२५१ राग सदृश न रोग है, द्वेष सदृश ना दोष ।  
मोह सदृश न मूढ़ता, धर्म सदृश न होश ॥

गाथा-२५२ प्रकट करे पर दोष को, ढकता अपने दाग ।  
पर निंदा निज स्तुति निरत, व्याकु लरहे अभाग ॥

गाथा-२७७ सै संस्कार अनित्य है, देख ग्यान सूं देख ।  
प्रग्या सूं देखण लगे, दुख की रवे न रेख ॥

गाथा-२८८ (१)  
पूत न रच्छा कर सकै, बाप न सकै बचाय ।  
नूंतो आवै काल को, कूण सकै सरकाय ॥

(२)  
पुत्र न रक्षा कर सके, पिता न माता भ्रात ।  
कौन बचा पाए भला, काल करे जब घात ॥

गाथा-३३८ तृष्णा जड़ से खोद कर, अनासक्त बन जायँ ।  
भव सागर से तरन का, यह ही एक उपाय ॥

गाथा-३५४ (१)  
सब दानों से श्रेष्ठ है, धर्म रतन का दान ।  
दायक पाये पुण्य बल, ग्राहक सुख निर्वाण ॥



(२)

धरम दान सब दान मँह, सिरै मोर ही होय ।  
सभी रसां मँह धरम रस, अतुलित हितक रहोय ॥

गाथा-३६१ वाणी तो वश में भली, वश में भला शरीर ।  
पर जो मन वश में करे, वही संयमी वीर ॥

गाथा-३६४ सदा सोचिए धर्म ही, सदा बोलिए धर्म ।  
हो शरीर से धर्म ही, यही मुक्ति का मर्म ॥

गाथा-३७३ (१)

शांत चित्त अंतर्मुखी, बैठे शून्यागार ।  
देखत देखत वेदना, दिखे परम सुख सार ॥

(२)

आंख मूंद अन्तरमुखी, बैठे शून्यागार !  
देखत देखत वेदना, मिले सुखों का सार ॥

गाथा-३७४ जहां जहां इस स्कंधमें, सम्यक स्मृति जग जाय ।  
वहीं दिखे उत्पाद-व्यय, तो अमृत मिल जाय ॥

गाथा-३९४ जटा जूट माला तिलक, हुए शीश के भार ।  
भेष बदल कर क्या मिला, मन के मूल उतार ॥